॥ हरिः ॐ ॥

श्रीमोटा और शिक्षा

(गुजराती 'श्रीमोटा अने शिक्षण')

श्रीमोटा का शिक्षण दर्शन

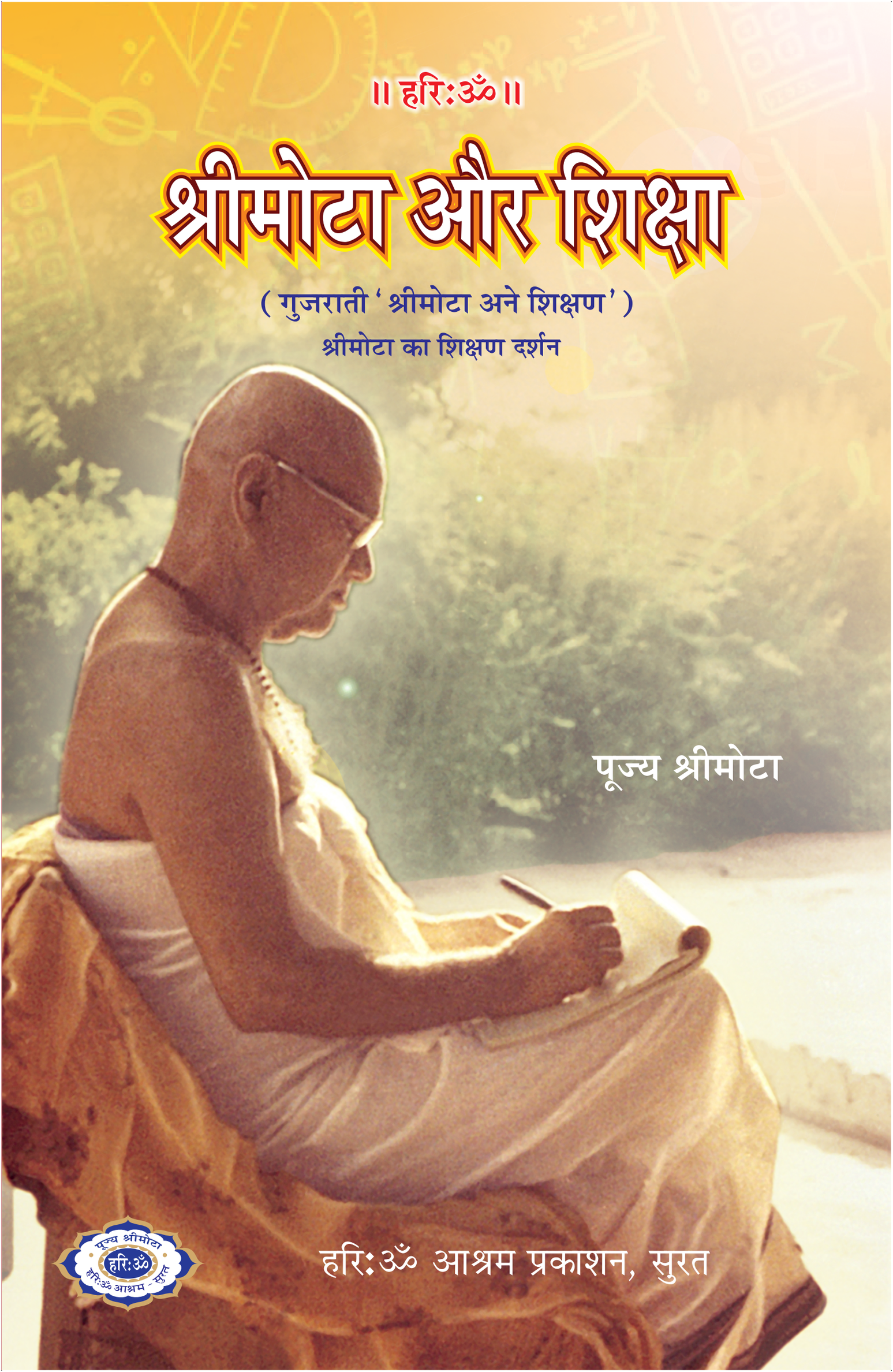

पूज्य श्रीमोटा

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सुरत

॥ हरिः ॐ ॥

श्रीमोटा और शिक्षा

(गुजराती 'श्रीमोटा अने शिक्षण')

श्रीमोटा का शिक्षण-दर्शन

: लेखक :

डॉ. कौशिक मेहता

: अनुवादक :

डॉ. कविता शर्मा 'जदली'

: संपादक :

रजनीभाई बर्मावाला

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत

❑ **प्रकाशक :**
हरि:ॐ आश्रम, कुरुक्षेत्र श्मशानघाट, जहाँगीरपुरा
सूरत-३९५००५, भ्रमणभाष : +९१ ९७२७७ ३३४००
Email : hariommota1@gmail.com
Website : www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम, सूरत - नडियाद

❑ प्रथम संस्करण : २०२२

❑ पृष्ठ संख्या : ३५८

❑ प्राप्तिस्थान : हरि:ॐ आश्रम, सूरत - ३९५००५.

हरि:ॐ आश्रम, नडियाद - कपडवंज रोड,
जूना बिलोदरा, पो. बो. नं. ७४, नडियाद-३८७००१
भ्रमणभाष : +९१ ७८७८० ४६२८८

❑ अक्षरांकन : अर्थ कॉम्प्यूटर,
२०३, मौर्य कोम्प्लेक्ष, सी. यु. शाह कॉलेज के सामने,
इन्कमटैक्स, अहमदाबाद-३८००१४.
भ्रमणभाष : ९३२७० ३६४१४
डिझाइनर : मयूर जानी. मो. : ९४२८४ ०४४४३

❑ मुद्रक :
साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरिया रोड, अहमदाबाद-३८००२२
दूरभाष : (०७९) २५४६९१०१

॥ हरि:ॐ ॥

अर्पण... पूज्य श्रीमोटा को

निवेदन

पूज्य श्रीमोटा के दो सूत्र बहुत ही दिशासूचक हैं । एक तो यह कि 'संसार यह पाठशाला और प्रयोगशाला है ।' दूसरा यह कि 'समाज यह नारायण का स्वरूप है ।' पूज्य मोटा को साधना केवल आत्मसाक्षात्कार तक मर्यादित न थी । उनके जीवनकार्य में केवल 'स्व' का उद्धार नहीं, किन्तु संपूर्ण समाज का उद्धार केन्द्र में था । नर से नारायण हो सकते हैं, यह उनका 'जीवनदर्शन' है । यों तो १९८९ तक पूज्य मोटा के बारे में कुछ भी जानता न था । केवल एक संत हैं, इतना ही पता था । अचानक ही मई १९८९ में प्रो. श्री जे. एच. शाह (मार्गदर्शक) साहब ने पीएच. डी. संबंधी बात करने के लिए युनि. भवन में बुलाया था । उन्होंने बातचीत में पूज्य मोटा के शैक्षणिक विचार पर महानिबंध लिखने को सूचित किया । प्रारंभ में तो बहुत ही हिचकिचाहट हुई, क्योंकि पूज्य मोटा तथा हरि:ॐ आश्रम संबंधी मैं कुछ नहीं जानता था । प्रो. शाह साहब ने मुझे बहुत ही प्रोत्साहित किया । उसी महीने में वे मेरे साथ हरि:ॐ आश्रम आये । शनि-रवि दो दिन नडियाद आश्रम में रुके ।

आश्रम के वातावरण ने मुझ में विश्वास पैदा किया । मैंने मौनमंदिर में बैठने का निर्णय किया । मई १९९० में मौनमंदिर में एक सप्ताह बैठा । मौनमंदिर में ही पूज्य मोटा रचित दो पुस्तकें 'जीवनदर्शन' और 'जीवनपराग' का अध्ययन, चिंतन किया । बस, दिशा मिल गई । मानो पूज्य मोटा का ही मार्गदर्शन शुरू हो गया हो । वाणिज्य का विद्यार्थी होने के नाते 'अभियान' जैसी न्यूजमैगेजिन के अलावा

कुछ भी पढ़ा न हो, ऐसे मेरे लिए पूज्य मोटा की पुस्तकें पढ़ना किस तरह सरल हुआ, वह आज तक समझ नहीं आया । अध्ययन में ऐसा तो आनंद आने लगा कि १०२ पुस्तकों का अध्ययन किस तरह से पूर्ण हुआ उसका ख्याल भी नहीं आया । जमा-खर्च का हिसाब और गणित के विषय सिखाने के कारण पूरे वाक्य लिखने की आदत भी छूट गई थी ।

प्रस्तुत महानिबंध पढ़ते हुए आज भी इस बात की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती कि पूज्य मोटा के आशीर्वाद से ही इस महानिबंध को लिख सका हूँ । पूज्य मोटा को मैंने शरीरस्वरूप में देखा ही नहीं है । परन्तु पुस्तकवाचन और महानिबंध के लेखनकार्य के समय पूज्य मोटा का प्रसन्न चहेरा अनेक बार देखने का आभास अनुभव हुआ है । यद्यपि मेरे लिए तो पूज्य मोटा के अति चाहक ऐसे स्वजन प्रो. शाह साहब ही पूजनीय हैं । आज भी मेरे जीवन का सु-आकार उनके द्वारा ही मिल रहा है । पीएच. डी. की पदवी के साथ साथ प्रस्तुत अध्ययन में जो प्रसन्नता प्राप्त की है तथा पूज्य मोटा के शब्ददेह का जो साक्षात्कार अनुभव किया है, वह अवर्णनीय है । प्रस्तुत महानिबंध को पुस्तक स्वरूप में प्रकाशित करने की तीव्र चाहना करनेवाले प्रो. जयंतीभाई शाह साहब तथा प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक माननीय श्रीमती प्रवीणाबहन शाह, जिन्होंने इस पुस्तक का संपूर्ण खर्च उठाया है, उनका मैं अत्यंत ऋणी हूँ ।

'गोकुल', पिनाकीन सोसायटी, **डॉ. कौशिक मेहता**

पालडी, अहमदाबाद-३८०००७

ता. ४-९-१९९४

॥ हरि:ॐ ॥

दो बोल

ई. स. १९८९ गार्मियों की छुट्टियों में मौनमंदिर में बैठने का हुआ । तब पूज्य श्रीमोटा के शिक्षा विषयक विचार, उद्‌बोधन, स्वजन के साथ हुए पत्रव्यवहारों में तथा प्रकाशित हुई पुस्तकों में बिखरी शिक्षा रत्नकणिकाओं का संकलन करके 'पूज्य श्रीमोटा के शैक्षणिक विचार और हरि:ॐ आश्रम ट्रस्ट का शिक्षा के क्षेत्र में प्रदान' विषय पर महानिबंध तैयार करवाना ऐसी अंत:स्फुरणा हुई । मेरा अपना विशिष्ट क्षेत्र 'मनौवैज्ञानिक मापन' का अर्थात् इस विषय के लिए सुयोग्य पात्र मिल जाये कि जिससे यह कार्य खिल उठे ऐसा ख्याल भी था । सचमुच मेहनती, धीरजवान, सर्तकतापूर्वक काम कर सके ऐसे श्री कौशिकभाई मेहता पीएच. डी. के विद्यार्थी के रूप में मिल भी गये और २४ जुलाई १९८९ में उनका रजिस्ट्रेशन करवाया । पूज्य श्रीमोटा का संपर्क १९७३ से हुआ था । मौनमंदिर में बैठने का होता, तब प्रारंभ के वर्षों में उनकी पुस्तकें पढ़ता । नये प्रकाशन बाहर आते उन्हें भी पढ़ता, परन्तु डॉ. कौशिकभाई ने लगभग १०२ जितनी पुस्तकों का गहराई से अध्ययन करके, शिक्षा के अलग-अलग पक्षों के बारे में जो 'दोहन' कार्य किया, वह अद्वितीय है । बहुत ही लगन से यह काम पूरा करके १८ मार्च, १९९३ में पीएच. डी. की पदवी प्राप्त की ।

प्रस्तुत पुस्तक इस महानिबंध पर आधारित है । पूज्य मोटा लोकशिक्षक थे । उनको शिक्षा की प्रक्रिया में संसार यह प्रयोगशाला तथा पाठशाला है । व्यक्ति स्वयं पढ़नेवाला है । व्यक्ति स्वयं ही शिक्षक

और परीक्षक है । स्व के द्वारा स्व संरचना करते करते समाज को बैठा करना यह पूज्य मोटा का जीवनध्येय था । वर्तमान में जब शिक्षाक्षेत्र दिशाशून्य होता जा रहा हो, तब पूज्य मोटा के शैक्षणिक विचारों को प्रस्तुत करता यह पुस्तक वास्तविक शिक्षाओं की सीमा को स्पर्श करता है । इतना ही नहीं, शिक्षा जगत के अंधकार में एक प्रकाशपूंज हो वैसा है । हाँ, 'हरि:ऊँ आश्रम का शिक्षा के क्षेत्र में प्रदान' यह पूरा विभाग बाकी रखा है, क्योंकि इस बारे में जानकारी गुजरात के कोने कोने तक है ।

शिक्षा के क्षेत्र में यह पुस्तक एक संदर्भ पुस्तक (Reference Book) के रूप में उपयोगी होगी । प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षा की पूरी समझ दी है । सभी वाचकों को कुछ न कुछ प्राप्त होगा ही । गुजरात युनिवर्सिटी ने प्रस्तुत महानिबंध को पुस्तक स्वरूप में प्रकाशित करने के लिए मंजूरी दी इसके बदले मैं उनका आभारी हूँ ।

एफ/७ स्वस्तिक एपार्टमेन्ट,
पालडी, अहमदाबाद-३८०००७
ता. ४-९-१९९४

जयंतीभाई ही. शाह (मार्गदर्शक)
निवृत्त प्रोफेसर और अध्यक्ष
शिक्षा विभाग,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद

॥ हरिः ॐ ॥

श्रीमोटा की अनुभवमूलक अभिव्यक्ति का अध्ययन

गुजरात युनिवर्सिटी के अभी निवृत्त अध्यक्ष डॉ. जे. एच. शाह के मार्गदर्शन में डॉ. कौशिकभाई मेहता ने तैयार किये महानिबंध का बृहद्अंश का यह ग्रंथरूप ध्यानार्ह बना है । डॉ. कौशिक मेहता ने श्रीमोटा की शिक्षा और तालीम विषयक विचारों का दोहन और संकलन किया है, इसमें उनकी विवेकदृष्टि का परिचय तो मिलता ही है। परन्तु इसके साथ ही इन विचारों की यथार्थ आलोचना और समीक्षा करके श्रीमोटा की शिक्षा विषयक भावना को उन्होंने उभारा है, यह इस महानिबंध का ध्यानार्ह पक्ष है । श्रीमोटा की अनुभवमूलक अभिव्यक्ति की डॉ. मेहता ने कदर की है और वर्तमान शिक्षा पद्धति से हमारी प्रजा जो घातक और पतित अवस्था अनुभव कर रही है, यह दिखलाकर, श्रीमोटा के अनुभव प्रमाणित शिक्षा विषयक विचार अभी के समय में कितने प्रमाण में प्रस्तुत हैं, इसे बतलाया है । डॉ. मेहता का यह मूल्यांकन इस ग्रंथ का मौलिक पक्ष है । एक संवेदनशील अभ्यासी के रूप में डॉ. मेहता का व्यक्तित्व कोई भी वाचक जान सकेगा । श्रीमोटा के शिक्षाकार्य तथा शिक्षाविचार के व्याप को मानव के पूर्णजीवन तक सोचकर संपूर्ण और सुरेख आकलन डॉ. मेहता ने किया है, उसका स्वागत करते हुए आनंद होता है ।

१, अनुग्रह एपार्टमेन्टस, – **रमेश म. भट्ट**
३२, पंचवटी सोसायटी,
मणिनगर, अहमदाबाद–३८०००८

॥ हरिः ॐ ॥

निवेदन

(प्रथम संस्करण - हिन्दी)

पिछले कई वर्षों से हमारे हरिः ॐ आश्रम सूरत और नडियाद के मौनमंदिरों में बिनगुजराती भाषी साधकों अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए आने लगे हैं । उन साधकों श्रीमोटा के अमूल्य आध्यात्मिक साहित्य द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर सके इसलिए श्रीमोटा का आध्यात्मिक साहित्य जो मूल गुजराती भाषा में प्रकट हुआ है, उसका हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावाला ने थोड़े वर्ष पहले रखा था । उस अनुसार वह कार्य लगभग सन् २००८-२००९ से शुरू किया हुआ है । ट्रस्ट के अन्य कार्यों की जवाबदारियाँ निभाते निभाते ट्रस्टी श्री रजनीभाई ने 'विद्यार्थी मोटा का पुरुषार्थ', 'मौनमंदिर का मर्म', 'मौनमंदिर में प्रभु', 'देवासुर संग्राम', 'जीवित नर सेएँ' आदि पुस्तकों स्वयं अनुवाद किये हुए हैं । श्रीमोटा के आध्यात्मिक साहित्य का हिन्दी अनुवाद करने में श्री भास्करभाई भट्ट, इन्दौर (म. प्र.) (वर्तमान में स्वर्गस्थ) और डॉ. कविता शर्मा 'जदली' पीएच. डी. अहमदाबाद का सहकार भी मिला है । अभी अभी पिछले दो वर्ष से इस कार्य को शीघ्रता से करने के लिए श्रीमोटाकृपा से श्रीमोटा के एक प्रेमी स्वजन श्री निरंजनभाई चंदुलाल पटेल ने उत्साहपूर्वक एक धक्का और मारा है कि श्रीमोटा का पूरापूरा गुजराती आध्यात्मिक साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराके ट्रस्ट की वेबसाईट www.hariommota.org पर

इ-बुक के रूप में सभी के लिए उपलब्ध कराना । श्री निरंजनभाई ने केवल शाब्दिक धक्का नहीं लगाया, किन्तु इस कार्य के लिए रुपये चालीस लाख से कुछ अधिक की धनराशि भी श्रीमोटा के चरणकमल में अर्पित कर दी है . और तो और क्या इससे अधिक खर्च यदि हो तो और अधिक धनराशि देने की तैयारी भी बताई है । उनका असीम आभार हमारी सीमित शब्दावलि से व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं । इसका बदला चुकाने का सामर्थ्य तो केवल श्रीमोटा में ही है और वै ही चुकायेंगे ऐसी आपश्री के चरणकमल में हमारी प्रार्थना है ।

श्रीमोटा एक अत्यंत गरीब रंगरेज कुटुम्ब से आते हैं । आपश्री ने स्वप्रयत्न और अपने समर्थ श्रीसद्गुरु श्रीकेशवानंदजी धूनीवाले दादा (सांईखेडा-खंडवा (म. प्र.)) के आध्यात्मिक मार्गदर्शन में संसार का त्याग किये बिना लगभग सत्रह वर्ष कठिन साधना की और सन् १९३४ में सगुण ब्रह्म और सन १९३९ में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार किया ।

श्रीमोटा इसके बाद अपने आप स्वयं आ मिले ऐसे प्रयत्नशील जिज्ञासु साधकों को केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्ष में या परोक्ष रूप में पत्रों द्वारा आध्यात्मिक मार्गदर्शन देते थे । यह पुस्तक 'श्रीमोटा और शिक्षा' एक साधक को लिखे हुए पत्रों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, जो हम जिज्ञासु, मुमुक्षु साधकों के करकमल में रखते हैं । और आशा करते हैं कि वे सब अपने अपने सामर्थ्य अनुसार लाभ प्राप्त करें ।

दि. २६-१-२०२३ **ट्रस्टीमंडल**

(वसंतपंचमी - श्रीमोटा का दीक्षा-दिन) हरि:ॐ आश्रम, सूरत

॥ हरिः ॐ ॥

अनुक्रमणिका

क्रम		नंबर
१.	श्रीमोटा–जीवनयात्रा	११
२.	श्रीमोटा का शिक्षालक्षी चिंतन	३७
३.	बालशिक्षा	४४
४.	विद्यार्थी और अभ्यास	५७
५.	श्रीसद्गुरु और विद्यार्थी	६९
६.	स्त्रीशिक्षा	८०
७.	दाम्पत्यजीवन की शिक्षा	१०२
८.	संसार—पाठशाला एवं प्रयोगशाला	१३३
९.	समाजलक्षी शिक्षा	१४८
१०.	गुणलक्षी शिक्षा	१६१
११.	जीवनविकास के लिए आजीवन शिक्षा	२३२
१२.	श्रीमोटा और आध्यात्मिक शिक्षा	२४५
१३.	प्रार्थना – शिक्षा	२५०
१४.	इन्द्रियों की शिक्षा	२५७
१५.	मन की शिक्षा	२६६
१६.	हृदय की शिक्षा	२७५
१७.	आत्मा (स्व) की पहचान	२८४
१८.	स्व द्वारा गढ़न	२९१
१९.	नर से नारायण	३०५
२०.	पूर्ण जीवन की शिक्षा	३२१
२१.	मौनमंदिर – आध्यात्मिक प्रयोगशाला	३२७

॥ हरिः ॐ ॥

१. श्रीमोटा - जीवनयात्रा

भारतभूमि संतों की भूमि है, नर से नारायण बनने की उसकी अपनी संस्कृति है । सत्य, संस्कार और संतों के त्रिवेणीसंगमवाली भारतीय संस्कृति ने समाज को जब जैसी जैसी आवश्यकता पड़ी, तब वैसी वैसी आवश्यकता पूर्ण की है । संतों के द्वारा सेवा करती भारतीय संस्कृति ने इस देश और समाज को युग-युग में नूतन जीवन दिया है । संतों के परिश्रमी नूतन प्रकाश द्वारा ही समाज नीरोगी रहा है, प्रकाशित हुआ है । गुरुनानक, दयानंद सरस्वती, कबीर, रामतीर्थ, स्वामी विवेकानंद, चैतन्य महाप्रभु, रमण महर्षि, श्रीअरविंद, श्रीरंगअवधूत आदि अवतारी पुरूषों की संतश्रेणी में श्रीमोटा का नाम भी विलक्षण संत के रूप में मुख्य है । उन्होंने घर छोड़ा, सगे-संबंधी छोड़ें और समाज को अपना समझा । श्रीमोटा ने 'हरिःऊँ आश्रम' के माध्यम से मौन की महिमा से अपने अंतिम श्वास तक समाजनिर्माण का कार्य किया और गुजरात की संत विभूतिओं में **मोटा** 'बड़े' हो गये । विक्रम संवत १९५४, भाद्रप्रद कृष्णपक्ष - ४ शनिवार, ता. ४-९-१८९८ के दिन भाईचन्द भगत के बेटे आशाराम भगत के यहाँ द्वितीय संतान के रूप में श्रीमोटा शरीर धारण करके इस लोक में पधारे । माता सूरजबा का सूर्यतेज और पिता आशाराम

भगत का भगतपन विरासत में ही मिला था । शनिवार के दिन जन्मे थे, इससे 'शनिया' कहलाये । उनका मूल नाम चुनीलाल आशाराम भगत था । उनकी बा उन्हें 'चुनिया' ही कहतीं । बड़ी उम्र में जोर जोर से भजन गाते गाते आते जाते, इससे इतर लोग उन्हें 'भगत' कहते थे । श्रीमोटा के साथ वे कुल चार भाई थे – जमनादास, चुनीलाल, मूलजीभाई और सोमाभाई । श्रीमोटा दूसरे क्रम में थे ।

बापदादा का वैभव खूब था । इससे उनका शैशवजीवन खूब ही वैभव में बीता । संयोग की चपेट लगते ही दादा का अवसान हुआ । पीढ़ी भी नादार हो गई और गरीबी की कालिमा कुटुंब पर छा गई । परिणाम स्वरूप अपना वतन सावली छोड़कर पूरा परिवार कालोल में आ गया । श्रीमोटा शैशवकाल बिता करके बालक हुए थे । गरीबी के सिकंजे में कुटुंब फँसा होने पर भी माता सूरजबा किसी भी तरह हिंमत नहीं हारी थी । गरीबी का सामना करने के लिए मातापिता दोनों ने परिश्रम की पराकाष्टा की । माता सूरजबा पिसाई करने जाती, कूटने जाती, पानी भरने जाती, मजदूरी करने भी जाती थी । बालमोटा ने यह सब देखा । उनका दयाभरा हृदय द्रवित हुआ और स्वंय भी कोमल हाथों से परिश्रम करने का संकल्प किया ।

परिवार के जीवन को निभाने के लिए गरीबी के सामने संघर्ष करते मातापिता को सहायता करने का संकल्प बालमोटा

कर चुके थे । खेलने की उम्र में बालमोटा ने ईंटबाड़ा में गर्म ईंटे उठाई, राजगीरी में तगारे उठाये, खेत में कपास के डोंड़ें बीनने और अरहर बीनने का काम भी किया । कठोर परिश्रम के साथ साथ स्कूल में नियमित जाकर पढ़ना भी जारी था ।

श्रीमोटा जिस शाला में पढ़ते उस शाला के सामने एक ही चबेने की दुकान थी । रिसेस के दौरान सभी विद्यार्थी दुकान में जाकर चबेना, गांठिया, चेवड़ा आदि खाते थे । बालमोटा को भी यह खाने का मन हुआ । पर पैसा कहाँ से लाये ? उन्हें पता था कि कठोर परिश्रम करके इकट्ठे किये पैसे बा एक कुल्हड में रखतीं । चबेना खाने की तीव्र इच्छा ने उन्हें घर से चार पैसे की चोरी करवाई । शाला में रिसेस के दौरान चबेना भी खाया । पर मन नहीं माना । मन के साथ तन का संघर्ष प्रारंभ हुआ । कुछ गलत करने का एहसास हुआ । अंत में सारी बातें उन्होंने निखालिस भाव से माता सूरजबा से की । उलाहना सुना, पर चोरी न करने का आत्मनिर्णय किया और बचपन से ही स्वनिर्माण का प्रारंभ किया ।

कालोल में बनियों की बस्ती अधिक थी । सभी व्यापारी और स्थितिपात्रवाले थे । शाला में भी बनिया विद्यार्थियों की संख्या प्रमाण में अधिक थी । श्रीमोटा पढ़ने में होशियार थे । इसलिए सभी विद्यार्थी उनके साथ मैत्री रखते थे । गाँव

में शादी के समय बनियों की बाड़ी में दो महीने बिरादरी रहती थी । शाला में बनियों के लड़के रोज बात करते कि आज तो लड्डू खाये, कल हलवा और रोटी आदि । बालमोटा को भी लड्डू खाने की बहुत ही इच्छा हुई । बचपन से ही (माता सूरजबा मोटा को 'स्वादिया' कहकर बुलाती थी) स्वादवाली रसोई उन्हें खूब अच्छी लगती थी । एक दिन रात को बनियों की बाड़ी के पास पहले निश्चित किये अनुसार बालमोटा पहुँच गये । बनिया मित्रों ने बाड़ी से चुपचाप लड्डू की टोकरी उन्हें दी । **मोटा** उसे लेकर तुरन्त ही घर गये । इतने सारे लड्डू देखकर सूरजबा ने सारी बात पूछी । बालमोटा ने सारी बातें बतलाई । माता का उलाहना पुनः मिला । परन्तु इस घटना से **मोटा** ने आत्मचिंतन और मंथन किया । खूब पश्चात्ताप किया । माता का उलाहना हृदयस्थ किया । 'न मिले तो नहीं खाना' निर्धारण किया । बालमोटा ऐसे अनेक प्रसंगों से बचपन से ही मन को मनाने का सीखते गये ।

मोटा के पिता अफीम के अल्हड़ व्यसनी थे । **मोटा** को भी अफीम की गोली देते थे । **मोटा** को भी अफीम खाने की आदत हो गई थी । एक बार **मोटा** से अफीम की गोली खो गई, इससे वह नहीं ले पाये । नियमित रूप से बालमोटा तो शाला में गये, किन्तु वर्ग में वह सो गये, क्योंकि अफीम नहीं लिया था । शिक्षक ने चालू वर्ग में ही **मोटा** को बहुत धमकाया । बालमोटा के मन में तुरन्त ही चिंतन प्रकट हुआ ।

उलाहना का कारण अफीम है । बस, 'अफीम छोड़ो' और एक झटके में ही अफीम की आदत छोड़ दी । स्वप्रयत्न द्वारा बालावस्था में ही आदत पर अंकुश प्राप्त करके कठिन से कठिन काम सहज रूप से किया ।

कठोर परिश्रम के साथ साथ पढ़ाई करते करते **मोटा** सातवीं कक्षा में आ गये । घर की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर होने से, उसे सुधारने के हेतु से कुछ कमाई कर सके, इसके लिए पढ़ाई छोड़कर गोधरा में एक व्यापारी की दुकान में नौकरी करने लगे । दूकान खोलनी, साफ करनी, गद्दीतकिये की चादरें बदलने आदि छोटे बड़े काम बहुत ही निष्ठापूर्वक करते थे । ज्यादा लाभ पाने के लिए व्यापारी सेठ ने अनाज तौलने में चालाकी करने का **मोटा** को सिखाया । **मोटा** यह सभी सीखे भी सही पर कभी उस बात (चालाकी) को अमल में नहीं रखा । सेठ या मालिक कहे वह अवश्य करना, परन्तु अप्रमाणिकता नहीं करना यह उन्होंने निश्चित किया था । परिणामस्वरूप कुटुंब को पैसों की सखत आवश्यकता थी, तब नौकरी छोड़नी पड़ी – व्यापारी के कहे अनुसार अप्रमाणिक न होने के कारण । तथापि किसी भी प्रकार का हिचकिचाहट अनुभव किये बिना दूकान से उतर कर घर में आ गये । इसी तरह पिता आशाराम ने भी पीढ़ी को नादारी के समय उनका लेना नहीं मिला, तब भी देना संपूर्ण चुकाया था । गरीबी थी, तथापि प्रामाणिकता पूरे कुटुंब को प्यारी थी ।

उनका घर सार्वजनिक रास्ते पर था । एक बार दो अतिथियों ने उनके घर निवास किया । रात को राउन्ड में निकली पुलिस ने इन दो मेहमानों को दालान में सोए देखकर कारण पूछना शुरू किया । सत्य बात बतलाते हुए आशाराम भगत ने बतलाया कि ये तो हमारे मेहमान हैं । 'पुलिस स्टेशन में मेहमानों की जानकारी क्यों नहीं दी ?' यह बतलाकर पुलिस ने बहुत गालियाँ दीं । आशाराम को मारते-मारते पुलिस थाने ले जाकर के पुलिस कस्टडी में बंद कर दिया । बालमोटा पर इस घटना की बहुत ही तीव्र असर हुई । प्रतिक्रिया और विरोध के बीच उन्होंने चिंतन किया । गरीब को पुलिस डपटे, गरीब को व्यापारी धमकाये, गरीब को श्रीमंत धमकाये, इस समाज में गरीब को सभी छेड़ते हैं । बस, **मोटा** ने उस समय बहुत ही पढ़ने का निर्णय किया । पढ़कर तहसीलदार जैसे उच्च पद को प्राप्त करना, 'बड़ा' होना । इसप्रकार, अपने शैशव अवस्था के दौरान ऐसे अलग-अलग अनुभव और छोटे बड़े प्रसंगों द्वारा उन्होंने अपना स्वनिर्माण किया । बालावस्था बहुत ही गरीबी में बीती थी । समाज में, ज्ञाति में बारम्बार अपमान सहन किये थे । भयंकर गरीबी के बीच परिश्रम की सीढ़ी चढ़ते बालमोटा ने शाला की शिक्षा प्रारंभ की । विपरीत संजोगों में भी विशिष्ट सूझ रखनेवाले **मोटा** ने कालोल में एंग्लो वर्नाक्यूलर मिडल स्कूल में १ से ४ कक्षा की पढ़ाई मात्र देढ़ वर्ष में पूर्ण कर दी । कम समय में अधिक सिद्धि प्राप्त करने की सक्रियता

यह उनका विशिष्ट गुण बचपन से ही विकसित हुआ था । जब वे सातवीं कक्षा में आये, तब तो कुटुंब की आर्थिक स्थिति बहुत ही विकट थी । गरीबी का सामना करने के लिए विद्यार्थी **मोटा** ने उसी स्कूल में चपरासी की नौकरी का स्वीकार किया । बचपन से ही आर्थिक उपार्जन की प्रवृत्ति करनी पड़ती थी । तथापि प्रथम नंबर में पास होने की प्रणालिका बनाये रखी ।

शाला के शिक्षकगणों में विद्यार्थी चुनीलाल प्रियपात्र थे । संनिष्ठ घनश्यामभाई मेहता की व्यवस्था से पेटलाद में उनकी (शिक्षक के) मासीबा प्रभाबा* के यहाँ **मोटा** बाद में पढ़ने गये । दो महीने के संक्षिप्त समय में मैट्रिक** की पढ़ाई समाप्त कर दी । **मोटा** अचानक अहमदाबाद में टाइफोईड में पड़े । मैट्रिक की परीक्षा के बीच में बहुत ही कम दिन थे ।

---

* जिन्होंने श्रीमोटा को मैट्रिक की पढाई में मदद की थी । वे धर्मनिष्ठ और आध्यात्मिक प्रकृति के थे । उनके संपर्क में श्रीमोटा आये । बाद में कॉलेज की शिक्षा में भी उन्होंने श्रीमोटा को बहुत मदद की थी । श्रीमोटा ने उनको अपनी 'आध्यात्मिक माँ' के रूप में संबोधन किया है ।

** मैट्रिक की परीक्षा के पहले ही श्रीजानकीदास महाराज ने श्रीमोटा को चेताये थे कि तुम्हें परीक्षा पहले बड़ी बीमारी आयेगी । इससे तुम सभी कार्यक्रम जल्दी से पूरा कर दो । उनके आदेश अनुसार श्रीमोटा ने पहले से ही पढ़ लिया था ।

नडियाद के संतराम मंदिर के श्रीजानकीदास महाराज की शुभेच्छा से **मोटा** को बहुत हिंमत मिली और अच्छे मार्क्स प्राप्त करके वे पेटलाद शाला में प्रथम नंबर लाकर मैट्रिक पास हुए । शाला की शिक्षा पूर्ण करके कोलेज शिक्षा प्राप्त करने के लिए **मोटा** वडोदरा आये । खर्च की चिंता तो हमेशा सताती थी । लोज या किसी के यहाँ खाने का खर्च उठा सके ऐसा नहीं था । इसलिए मितव्ययिता करने वे वैष्णव हवेली में चलते चलते 'पत्तल' में मंदिर का भोजन करने जाते थे । घण्टे से अधिक समय जाता था । परन्तु **मोटा** चलते चलते भी वाचनकार्य करते थे ।

इसप्रकार जीवन की सभी कठिनाइयों को वे प्रसन्नता में बदल देते थे । समय जाने पर पीछे से कालोल के एक संबंधी की पहचान से होस्टेल में प्रवेश मिल गया था । कॉलेज की होस्टेल में पेटलाद के नागर जाति के दूसरे तीन चार विद्यार्थी भी थे । जो इकट्ठे होकर एक चाय की क्लब चलाते थे । इसमें किसी को कोई काम आता नहीं था । उनकी विनती से **मोटा** ने चाय क्लब का संचालन ले लिया और वे रोज रूम के विद्यार्थिओं की चाय बनाते, बर्तन भी साफ करते थे । बदले में उन्हें पैसे बिना चाय मिलती थी । ऐसे के ऐसे कठिन कोलेज काल के लगभग तीन वर्ष होने आये ।

इसी समय में आजादी के आंदोलन से पूरे देश में राष्ट्रभक्ति की लहर फैली थी ।

कॉलेजियन **मोटा** ने वडोदरा में कठिन कॉलेज जीवन जी करके तीन वर्ष पूर्ण किये । बी. ए. की डिग्री को मात्र एक ही वर्ष बाकी था । उसी अरसे में ई. स. १९२०में गाँधीजी ने कलकत्ता कोग्रेस अधिवेशन में असहकार की घोषणा की । ब्रिटीश हुकूमत के सामने जिहाद किया । विद्यार्थिओं को कारकुन की शिक्षा का अस्वीकार करने का आदेश दिया । जन्मजात देशभक्त **मोटा** को गाँधीजी की चुनौतीपूर्ण वाणी ने हिला दिया । गरीबी में पड़े कुटुंब से देश की दशा अधिक विकराल बनी । एक ही क्षण में वडोदरा कॉलेज की शिक्षा छोड़कर अहमदाबाद में राष्ट्रीय शिक्षा देते गुजरात विद्यापीठ से जुड़े ।

महात्मा गाँधीजी ने युवक कॉलेजियनों को आह्वान करते हुए कहा, 'मैं तुम्हारे पास इसलिए आया हूँ कि मेरी बात तुम सुनो और तुम में से कोई ज्ञान की मशाल लेकर गाँवों में जाये और लोगों के दिल में ज्ञान का उजाला फैलाये ।' गाँधीजी की वाणी से द्रवित **मोटा** ने कॉलेज शिक्षा छोड़ी ('तरणामांथी मेरु' पृ. ६५ गुजराती पुस्तक)

विद्यापीठ में एक प्रसंग में गांधीजी ने विद्यार्थिओं को बतलाया, 'मात्र पढ़ो नहीं पर देशबांधवों को पढ़ाने का काम भी करो, तभी देश का अंधकार दूर होगा ।' ('तरणामांथी मेरु' पृ. ६५ गुजराती पुस्तक) दूसरे दिन के प्रवचन में गाँधीजी ने पुनः अह्वान किया 'विद्यापीठ का विद्यार्थी पदवी

से नहीं, सेवा से ही शोभित होगा ।' ('तरणामांथी मेरु' पृ. ६७ गुजराती पुस्तक) गाँधीजी की वाणी ने **मोटा** के हृदय में देशभक्ति की उत्कृष्ट भावना पैदा की । स्नातक पदवी के मात्र तीन ही महीने बाकी थे । तब भी देशसेवा के लिए व्यक्तिगत आकांक्षाओं को तिलांजलि देकर आत्मचिंतन किया, 'तुम्हारे अकेले की गरीबी के सामने नहीं देखना । स्व का नहीं, समाज का विचार कर । देह का नहीं, देश का विचार कर ।' बस, श्रीमोटा गाँधीमार्ग पर चल पड़े ।

स्वराज्य आश्रम के स्थापक गिडवानीजी* का मार्गदर्शन लेकर, तालीम लेकर भरूच जिला के वागरा में लोकशिक्षा, ग्रामशिक्षा का कार्य स्वीकार किया (ई. स. १९२२) । ई. स. १९३० की ऐतिहासिक दांडीकूच के प्रसंग समय में साबरमती आश्रम से 'स्वराज्य लिये बिना वापिस नहीं आऊँगा ।' की घोषणा के साथ गाँधीजी ने नमक का सत्याग्रह किया । देश सारा हिल गया था । नमक के सत्याग्रह में हजारों लोगों ने अपने सिर फुडवाये थे । जुल्मी अंग्रेजों का विरोध करने बोरसद तालुका के दहेवाण गाँव में एक सभा का आयोजन किया था । सरकार ने निश्चित किया के सभा किसी भी

---

* दिल्ही के रामजश कॉलेज के आचार्य प्रतिभावान असूदमल टेकचंद गिडवानी ने गाँधीजी की पुकार पर कॉलेज का आचार्यपद छोड़कर विद्यापीठ में आचार्यपद लिया था ।

संयोग में होने नहीं देनी है । पर देशभक्ति की लहर गाँवों तक पहुँच चुकी थी । सभा निश्चित स्थान पर हुई । अचानक पुलिस टूट पड़ी, बहुत लाठीचार्ज किया, कितनों के हाथ टूटे, कितनों के पैर टूटे, सिर फूटे, भागदौड़ हो गई पर गांधीवादी देशभक्त श्रीमोटा अडिग रहकर लाठी खाते रहे और हरि:ॐ की आवाज लगाते रहे, एक कदम भी नहीं हटे । अंत में लाठी मारनेवाला थक गया । खून से लथपथ हालत में श्रीमोटा को चिकित्सालय में दाखिल किये गये ।

स्वराज की लडाई में श्रीमोटा सदैव आगे रहे । स्वराज्य की लड़ाई के लिए साबरमती में जेलवास भी भोगा, यरवडा जेल में भी रहने का हुआ । श्रीमोटा जेलयात्रा को वेकेशन मानते थे । वे जेल में साधना करके आत्मबल प्राप्त करते थे । वीसापुर जेल में श्रीमोटा ने सरल भाषा में गीता लिखी । व्यक्तिगत साधना तीव्र होने पर, गाँधीमार्ग से वे अध्यात्ममार्ग की तरफ मुड़े ।

अध्यात्ममार्ग पर जाने से पहले गाँधी-प्रभाव के कारण श्रीमोटा ने वागरा गाँव में लोकशिक्षा तथा ग्रामशिक्षा का कार्य स्वीकार किया था । वागरा में कुछ समय काम करने के बाद इन्दुलाल याज्ञिक के साथ नडियाद में हरिजन सेवा के कार्य में जुड़े । कुछ समय में ही हरिजन सेवक संघ का पूरा काम उनके सिर पर आ पड़ा, जो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

हरिजन सेवक संघ में कठिन काम निभाना था । सवर्णों के सार्वजनिक कुँवों पर हरिजन बालकों को ले जाना, वहाँ से पानी भरने का साहस करना, किसानों की डाँटडपट के सामने अस्पृश्यता निवारण का यज्ञ चालू रखना आदि काम श्रीमोटा हिंमतपूर्वक अडिगता से करते थे । श्रीमोटा के ही प्रयत्नों से सर्वप्रथम हरिजन और सवर्णों का स्नेहमिलन नडियाद में आयोजित हुआ । जिसमें गोकलदास तलाटी और फूलचंद बापूजी शाह (जिन्हें बाद में ज्ञाति के बाहर किया था) जैसे देशभक्त उपस्थित रहे थे । इस प्रसंग की सुगंध समग्र गुजरात में फैली । श्रीमोटा को ज्ञाति के बाहर निकाल देने की योजना ज्ञातिबंधुओं ने सोची पर श्रीगोदडिया महाराज के समझाने से ज्ञातिजनों ने यह निर्णय त्याग दिया ।

श्रीमोटा ने सेवा का मार्ग दूसरों को खुश करने के लिए नहीं पर अपनी आत्मा को खुश करने तथा समाज को तंदुरस्त बनाने के लिए स्वीकार किया था । श्रीमोटा की यह हरिजन सेवा आजीवन चली । (आज पिछड़े विस्तारों में हरि:ऊँ आश्रम संचालित शिक्षा के इतर कार्य भी किये जा रहे हैं ।)

श्रीमोटा ने बचपन से ही पढ़ने के साथ-साथ उसी शाला में चपरासी की नौकरी स्वीकार की थी । इससे शिक्षा-जगत के साथ सीधा संपर्क में आना हुआ । गाँधीमार्ग पर चलने के बाद हरिजन आश्रम और हरिजन शाला का काम भी सँभाल लिया था । आगे जाने पर हरिजन आश्रम और

हरिजनशाला दोनों में से एक काम को पसंद करने का आया, तब स्वभाव से शिक्षक के **जीव**, इसलिए हरिजन शाला का काम ही स्वीकार कर लिया ।

पूरे देश में सरकार के सामने आंदोलन चलानेवाले, होमरूल लीग की स्थापना करनेवाले एनी बेसन्ट एक बार नडियाद मुलाकात के लिए आयीं थीं । अलग-अलग कार्यक्रमों के अनुसार, श्रीमोटा की हरिजनशाला की मुलाकात के लिए शाम का समय रखा था । शाम के साढ़े पाँच होने पर भी एनी बेसन्ट शाला की मुलाकात के लिए आ न सकीं । श्रीमोटा ने सोचा कि विद्यार्थिओं को देर तक अनिवार्य रोकना यह तो उन पर जुल्म किया कहलायेगा । शाला की इज्जत बढ़ाने के लिए विद्यार्थिओं को गलत तरह से सहन करना पड़े यह ठीक नहीं है, ऐसा सोचकर श्रीमोटा ने विद्यार्थियों को छोड़ दिया । कुछ देर में एनी बेसन्ट आयी पर शाला तो छूट गई थी । आयोजक और गाँव के अन्य अमुक श्रीमोटा पर आग बगूला हो गये थे । श्रीमोटा पर उकताकर कहने लगे, 'बालकों को रोकने के लिए तुम्हें बतलाया था न ?' श्रीमोटा तुरन्त ही बोल उठे, 'बालक भेड़बकरे नहीं कि उन्हें शाला में बंद करके रखें ।' एनी बेसन्ट ने भी श्रीमोटा का पक्ष लिया और उनके कार्य से खुश होकर प्रसन्नता व्यक्त की ।

नडियाद में हरिजनशाला के आसपास मुसलमानों की बस्ती अधिक थी, शाला का समय हो, तब कुछ मुस्लिम

लड़के हरिजन विद्यार्थी आये तब सतायें, मजाक करें, शाला में भी आ जाते और धूल उड़ाकर तूफान करते थे । श्रीमोटा इस मामले में स्थानिक मुस्लिम अगुआ से मिले । वहाँ के काजी से भी मिले पर तूफान बंद नहीं हुआ । हरिजन विद्यार्थियों को सताया जाना चालू ही रहा । एक बार इसी मामले में श्रीमोटा ने विद्यार्थिओं के बदले झगड़ा मोल लिया और उन मुस्लिम लड़कों को पीट दिया । विद्यार्थिओं की देखभाल यह मेरा नैतिक कर्तव्य है ऐसा श्रीमोटा समझते थे ।

स्कूल की पढ़ाई के अलावा विद्यार्थिओं में समाजभक्ति, देशभक्ति तथा संस्कार खिल सकें इसके लिए भी श्रीमोटा सक्रिय रहते थे । वे शाला के समय के बाद हरिजनवास में जाते, विद्यार्थिओं के कुटुंबों को मिलते, बालकों-विद्यार्थिओं को इकट्ठे करके महाभारत की बात करते, भजन गाते, बातचीत करते, कभी कभी हरिजनवास में रात्रिनिवास भी करते थे । विद्यार्थिओं के साथ प्रवास, पर्यटन और वनभोजन के कार्यक्रम भी करते थे । इसप्रकार श्रीमोटा शाला के समय में ही शिक्षक नहीं पर चौबीस घण्टे शिक्षक बनकर रहते थे ।

श्रीमोटा ने नवसारी आश्रम में भी विद्यार्थिओं के साथ विद्यार्थी-निर्माण-प्रवृत्तियाँ सुन्दर ढंग से की थीं । विद्यार्थिओं में साहस, एकता और देशभक्ति के गुण का विकास हो, इसके लिए श्रीमोटा ने एक बार नासिक जेल में राजकीय

केदिओं को मिलने जाने के लिए विद्यार्थिओं की साइकिल मुसाफरी की व्यवस्था की थी । बालविद्यार्थिओं के नाक साफ करते और इस तरह से उन्हें स्वच्छता सिखलाते थे, विद्यार्थिओं के दैनिक जीवन के साथ श्रीमोटा ओतप्रोत हो जाते थे ।

नवसारी में हरिजन आश्रम के समीप दूधिया तालाब है । विद्यार्थिओं के सैरगाह के लिए उन्होंने एक बेड़ा बनाया था । बाकी समय में श्रीमोटा विद्यार्थिओं को बेड़ा पर बिठाकर सैर करवाते थे । एक बार श्रीमोटा किसी कारण से बाहर गये हुए थे । आश्रम के विद्यार्थी अकेले बेड़ा लेकर तालाब में गये, संतुलन न रखने पर बेड़ा से सभी तालाब में गिर पड़े । संजोगानुसार उसी क्षण श्रीमोटा वहाँ आ पहुँचे और क्षणभर भी सोचे बिना तालाब में कूद पड़े और बालकों को बचा लिए । प्रत्येक क्षण विद्यार्थी के जीवन का ख्याल रखना, विद्यार्थी जीवन अर्थात् अपना जीवन ऐसी आत्मीयता के साथ वे आश्रमजीवन जीते थे ।

जन्मजात शिक्षक ऐसे श्रीमोटा विद्यार्थिओं में ओतप्रोत रहते थे । ई. स. १९३२ में नवसारी आश्रम में 'प्रार्थना' के बाद आराम की क्षणों में रणछोड़ नाम के विद्यार्थी को गले लगाकर बाहों में लेकर भावविभोर होकर श्रीमोटा मस्ती में मस्त होकर झूमते और जोर जोर से गाते कि, 'रणछाड़ तुम्हें लड़ लड़ कर लगूँ पाय, तुम्हारा मुल्क मुझे देखना है ।'' (धर्म अने समाज, गुजराती पुस्तक पृ. ४४) । एक बार

फुटबोल के खेल में एक विद्यार्थी* को धमकाने का हुआ, मार मारने का भी हुआ । विद्यार्थी निर्दोष था । इसलिए उसने भूख हडताल शुरू की । दो-तीन दिन हो गये । तीसरे दिन सुबह श्रीमोटा स्वयं भाखरी और गुड़ लेकर के उस विद्यार्थी के पास गये और उसे मनाकर खिलाया । विद्यार्थी को बाद में पता चला कि श्रीमोटा ने भी तीन दिन खाया नहीं था । कोई विद्यार्थी बीमार हो और दवा न पीए तो श्रीमोटा स्वयं दवा पीते और विद्यार्थी को शरमाते थे । उसके बाद विद्यार्थी स्वयं ही दवा लेने को तैयार हो जाता था । किसी विद्यार्थी को शारीरिक शिक्षा करने का होता तो उसके बाद स्वयं अपने आप पर भी वैसी शिक्षा करते । रात को निद्रागमन के बाद विद्यार्थी सो रहे हों, तब स्वयं जाँचने निकलते, सोये हुए विद्यार्थिओं को सही करते, प्रेम से थपथपाते, चादर ओढ़ा देते थे । विद्यार्थी के जीवन के साथ अपना जीवन एकरूप करते और स्वव्यवहार के द्वारा शिक्षा का कार्य करते थे । (आज के शिक्षक की तरह शाला समय के ही शिक्षक के रूप में नहीं रहते थे ।)

सुबह स्नान से लेकर रात्रि के निद्रागमन तक की सभी क्षणों में विद्यार्थी के जीवन जीने का तरीका, अच्छी आदतें हों, सुन्दर बनें वह श्रीमोटा देखते और विद्यार्थी को सिखाते थे ।

---

* वे श्री नीछाभाई सोलंकी लेस्टर, यु. के. वर्तमान में स्वर्गस्थ

आगे जाने पर श्रीमोटा समाजशिक्षक भी बने । समाज के आचार्य बने । शाला की दीवार तक उनका कार्य सीमित न रहकर समाज के छोटे से छोटे व्यक्ति तक उनका शैक्षणिक कार्य फैला था । अपने संपर्क में आये सभी स्वजनों के जीवन की कमी दूर करने का भगीरथ कार्य सूचना-शिक्षा के द्वारा उन्होंने किया । श्रीमोटा का विशिष्ट पत्रसाहित्य उन्हें लोकशिक्षक के रूप में उच्च स्थान दिलवाता है ।

ई. स. १९३९ से ई. स. १९५४ तक उन्होंने अनेक स्वजनों को जीवनविकास के लिए मार्गदर्शन देते पत्र लिखे हैं । गाँधीजी, नेहरू, कालेलकर और कान्त की तरह पत्रों के द्वारा शिक्षा देने का कार्य सतत किया । पत्रों के माध्यम द्वारा बहुत ही सरल और प्रभावी भाषा में लोकशिक्षा देने का कार्य उन्होंने किया । **पत्र के साधन द्वारा प्रेमदंड से हृदय का विकास करना, यह उनकी शैक्षणिक पद्धति थी ।**

भारत देश को लोकनेता, लोकनायक मिले हैं । समाजसुधारक, समाजसेवक मिले हैं । पर श्रीमोटा जैसे अनुभवी लोकशिक्षक बहुत ही कम मिले हैं, ऐसा श्रीमोटा का शैक्षणिक जीवन देखने पर अवश्य कह सकते हैं ।

श्रीमोटा ने जीवनविकास की साधना में अखंड और प्रचंड पुरुषार्थ किया था । गरीबी, कठिनाई और सख्ती तो बचपन से ही साथी हुए थे । प्रत्येक प्रसंग और अनुभव से शिक्षा प्राप्त करना उनका जन्मजात गुण था । व्यक्तिगत जीवन

में बनी अनेक घटनाओं ने उनके हृदय को झिंझोड़ा था और आध्यात्मिक मार्ग की ओर उनका प्रयाण सहजता से हुआ था ।

आंगन में आये साधु को भोजन करवाना, दूसरों को मदद करने के लिए सदा तत्पर और आगे रहना, गौसेवा करनी, भजन गाने आदि उनकी मनपसंद प्रवृत्तियाँ थीं । दूसरी तरफ बचपन से ही श्रीजानकीदासजी, श्रीसरयुदासजी और पूज्य गोदडिया महाराज जैसे संतों के स्पर्श तो थे ही । माता सूरजबा के तेजस्वी संस्कार और भगत पिता का भक्तिभाव विरासत में मिला था ।

मिरगी के रोग से उकताकर आत्महत्या के लिए नर्मदा की गोद (गरुडेश्वर, तालुका नांदोद, जिला नर्मदा, गुजरात) में लगाई छलाँग और नर्मदामैया द्वारा हुए अद्‌भुत बचाव ने श्रीमोटा को नयी दिशा दी । साधु के नामस्मरण की सूचना का स्वीकार करके, नामस्मरण द्वारा मिरगी के गंभीर रोग को मिटाने के स्वअनुभव ने श्रीमोटा को बहुत ही बल दिया था ।

नामस्मरण के सबल ऐसे सरल साधन द्वारा उनकी साधनायात्रा प्रारंभ हुई । मन की उछलकूद और मन के चित्रविचित्र व्यवहारों का स्वरूप देखते हुए श्रीमोटा ने सर्वप्रथम मन को सँवारने का काम किया, मन के साथ मित्रता की । (जिसमें से 'मन को' काव्यपुस्तिका की उत्पत्ति हुई ।) मन पर काबू पाकर साधना की गति बढ़ाने का प्रारंभ किया ।

श्रीमोटा की साधना के मुख्य साधन* थे । सांसारिक कामकाज करते करते भी नामस्मरण तो चालू ही रहता था । कभी विद्यार्थिओं को पढ़ाते-पढ़ाते वर्गखंड में भी साधना में लीन हो जाते थे । स्वजनों के समूह के बीच या आश्रम के सहकार्यकरों के बीच स्वयं को अलग रखकर साधना और नामस्मरण के लिए समय निकाल लेने की उनकी कला अद्‌भुत थी । स्वयं अपने साथ का अंतरसंग्राम सहज रूप से हुआ था । अभय, तितिक्षा, धैर्य, हिंमत, साहस, समता, शांति आदि गुण प्रतिकूल संजोगों में विकसित हो, इसके लिए रोज रात को श्मशान में सोने जाते थे । श्मशान की धरती वही उनकी शैया थी ।

श्रीमोटा की साधना सरल पर बहुत ही अचूक थी । एकाग्रता, केन्द्रितता, अटूटसूत्रता, भावात्मकता और आध्यात्मिकता उनकी साधना प्रक्रिया के मुख्य लक्षण थे ।

श्रीसद्‌गुरु की कृपा से अहमदाबाद में श्रीबालयोगी महाराज का दैवी संपर्क हुआ । उनकी गुप्त साधना के प्रबल तप के कारण दीक्षा देनेवाले गुरु भी उन्हें खोजते हुए आये और ई. स. १९२३** में वसंतपंचमी के नवपल्लवित दिन उनको दीक्षित किये ।

---

* अभय, नम्रता, मौन और एकांत

** ई. स. १९२२

श्रीसद्गुरु श्रीधूनीवालेदादा केशवानंदजी के सान्निध्य में श्रीमोटा की साधना तीव्रता से ऊर्ध्वगति की ओर आगे बढ़ रही थी । भर गर्मियों में, भर दोपहर में, जलते उपलों की थप्पिओं के बीच घण्टे तक बैठकर उग्र तपस्या करके, नर्मदा किनारे धुआँधार आदि स्थान पर दिनों तक साधना की । अमुक समय के लिए अपने ही मलमूत्र खा-पीकर २४-२५ दिन तक अघोरी साधना की । अनेक प्रकार से कठिन तपस्या करके अपनी साधना को अतिश्रेष्ठ बनाया ।

श्रीमोटा की साधना का एक खास पक्ष यह था कि वे सद्गुरु की आज्ञा का तत्क्षण पालन करते थे । श्रीसद्गुरू की आज्ञा का स्वीकार करके कराची में भरबाजार में नग्न दौड़ भी लगाई, श्रीसद्गुरु की सभी प्रकार की सेवा करना उसे अपना गौरव समझते थे । इसलिए ही श्रीसद्गुरु की कृपादृष्टि तथा आशीर्वाद उन्हें प्राप्त होते थे, श्रीसद्गुरु की सेवा, उग्र साधना और अखंड नामस्मरण तीव्र गति पर पहुँचते ई. स. १९३० में मन की नीरवता प्राप्त की । उनका मन भावपूर्ण रूप से संपूर्ण प्रभुमय हो गया । अलौकिक ऐसी अपूर्व शांति का अनुभव उन्हें हुआ ।

जीवन में आये सभी प्रकार के द्वन्द्व जैसे कि सुख-दुःख, आशा-निराशा, इच्छा-अनिच्छा, पसंद-नापसंद, प्रेम-तिरस्कार आदि में मन की भूमिका बिलकुल प्रसन्न रहने लगी । मन की नीरवता के कारण श्रीमोटा अपनी प्रवृत्तियाँ एकाग्रता

और प्रसन्नता से करते थे । हरिजन सेवक संघ आश्रम की प्रवृत्तियाँ सहजता से चल रही थी । बारह से चौदह घण्टे तक हरिजन सेवक संघ का काम करते, काम करते करते भजन रचते, गीता पढ़ा करते, गुजराती में गीता और भाववाली गजल भी लिखते, आजादी के आंदोलन में सत्याग्रह करके 'हरि:ॐ' के जयघोष के साथ लाठियाँ खाते, गाँधीटोपी पहनकर आधे खुले शरीर से पूरे अहमदाबाद में घूमते । साबरमती आश्रम में नाचते-कूदते, मित्रों को जोर से आवाज दे देकर बुलाते, ये सभी प्रवृत्तियाँ तब भी गुप्तरूप से साधना अखंडरूप से चालू ही रहती थी । दूसरी तरफ प्रभु ने भी उनका हाथ पकड़ लिया था ।

प्रभुकृपा और श्रीसद्गुरु के आशीर्वाद से ई. स. १९३४ में द्वैत के सगुण का साक्षात्कार हुआ । उनके ही शब्दों में, 'दो-तीन बार श्रीकृष्ण लगे थे । उनके दर्शन हुए थे । वे कृष्ण मुरलीधारी या इस तरह के नहीं वैसे इस पार्थिव शरीर के तत्त्वों के भी नहीं तथापि परम सौन्दर्य से भरपूर लबालब और अपार तेज के अंबार से लबालब भरे सदेही कृष्ण के वे दर्शन थे ।' (गुजराती 'जीवनदर्शन', पृ. ३७८)

इसप्रकार ई. स. १९२३* में वसंतपंचमी को बालयोगीजी महाराज ने दिये नवजीवन ने श्रीमोटा को उच्चतम कक्षा में पहुँचाकर नर से नारायण बना दिये । इस तरह से श्रीमोटा

* ई. स. १९२२ में

ने संसार में रहकर ही संन्यास विकसित किया । इसलिए वे संत नहीं, साधु नहीं, ऋषि नहीं पर बस 'मोटा' ही कहलाये ।

श्रीमोटा की साधना मात्र प्रभुप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार तक मर्यादित नहीं थी । उनकी साधना की विशिष्टता यह थी कि नामस्मरण के साथ साथ मनन, चिंतन भी उतने ही प्रबल रहते । मात्र स्व का उद्धार नहीं पर संपूर्ण समाज का उद्धार केन्द्रस्थान पर रहता ।

श्रीमोटा का समाज यह संपूर्ण मानव-समाज था । संसार में रहकर, साधना करने का अनोखा ढंग उन्होंने बतलाया । **सच्ची भक्ति अर्थात् मानवमात्र के हृदय में प्रभु के दर्शन करना । सच्चा कर्म अर्थात् फल की आशा बिना का प्रभु ने सौंपा हुआ कर्म, सच्चा ज्ञान अर्थात् दिल में खुली और गहरी समझ-यही था श्रीमोटा के साधना का अपना चिंतन ।**

श्रीमोटा जीवन और संसार को साधना के साधनरूप में स्वीकार कर लेने को बतलाते थे । जीवन से दूर रहकर वन में जाकर संन्यास स्वीकार करने से ही आत्मा का उद्धार हो, ऐसी सर्वस्वीकृत परंपरा का त्याग करके वे समाज में ही रहे । समाज को ही साधना का कार्यक्षेत्र माना, समाज को ही जीवन की कर्मभूमि माना । उनका चिंतन ऐसा मानता कि जब समष्टि दु:ख में डूबी हो, तब व्यक्तिगत कल्याण के बारे में सोचना यह एक प्रकार का स्वार्थ है - श्रीमोटा की यह व्यवहारु साधुता थी ।

धर्ममंदिर के स्थान पर मौनमंदिर, उपदेश के स्थान पर परिश्रम की, प्राप्त संस्कारों की बात करते समाज को बैठा करने की एक नयी ही पद्धति उन्होनें विकसित की है । श्रीमोटा के चिंतन में समाजोत्कर्ष केन्द्र में है । व्यक्ति का उत्कर्ष समाज के साथ गहरी तरह से जुड़ा है । क्योंकि व्यक्ति का विचार समाज के संदर्भ में ही सुसंगत होता है । समाज यदि बैठा हो जाय, तंदुरस्त और प्रगतिशील हो तो व्यक्ति भी उसमें से ताकत पाकर अपना विकास कर सकता है । दूसरी तरफ व्यक्ति का निर्माण भी समाजोत्थान के लिए इतना ही जरूरी है । इसीलिए ही श्रीमोटा ने व्यक्ति और समष्टि दोनों की विकासयात्रा साथ-साथ चले वैसे कार्य हाथ में लिये । एक तरफ हरि:ॐ आश्रम ट्रस्ट द्वारा समाजनिर्माण शुरू किया । दूसरी तरफ व्यक्तिनिर्माण के लिए मौनमंदिरों की उत्तम भेट समाज को दी ।

श्रीमोटा कहते, **'यह जो समाज है, वह नारायण का स्वरूप है ।'** (गुजराती 'धर्म अने समाज' पृ. २१) **यों समाज भी भगवान है । समाजरूपी भगवान की सेवा या आराधना करने 'समाजसेवा' वह उत्तम भक्ति है ।** ऐसा मानकर उन्होंने समाज को बैठा करने के लिए अनेक प्रवृत्तियाँ हरि:ॐ आश्रमों द्वारा आरंभ की । इस तरह संपूर्ण समाज को एक नूतन मार्ग अर्पण किया । *'समाज का कुछ काम कर'*- ऐसी गुरुआज्ञा का पालन अंतिम श्वास तक किया । उन्होंने

एक करोड रुपयों का दान समाज से इकट्ठा किया और समाज को अर्पण किया । देहत्याग करने से पहले भी समाजनिर्माण के कार्य के लिए टेर डालते कहा, '**मेरे नाम का ईंट चूने का स्मारक करना नहीं, मेरी मृत्यु निमित्त से जो कुछ धन इकट्ठा हो, उसका उपयोग शाला के कमरे बाँधने में करना ।**' (गुजराती 'पारसलीला', पृ. ८५)

इसप्रकार बालावस्था में कुटुंब की सेवा, विद्यार्थी अवस्था में शाला की सेवा, कॉलेज काल में आजादी आंदोलन में भाग लेकर देशसेवा, शिक्षकजीवन में विद्यार्थीसमाज की सेवा और आत्मसाक्षात्कार के बाद जीवन के अंतिम क्षणों तक संपूर्ण समाज की सेवा करके श्रीमोटा ने धरती का ऋण अदा किया । इसप्रकार श्रीमोटा संत के साथ-साथ समाजनिर्माता भी थे ।

श्रीमोटा का नाम सुनते ही मन में हरि:ऊँ आश्रम की स्मृति प्रकट होती है । हरि:ऊँ आश्रम के माध्यम से श्रीमोटा ने समाज के इतने सारे काम किये कि 'श्रीमोटा और हरि:ऊँ आश्रम' एकदूसरे के पर्याय बन गये । हरि:ऊँ आश्रम के परिचय बिना श्रीमोटा की जीवनयात्रा अधूरी ही लगेगी । **आपश्री मानते थे कि मेरे गुरुमहाराज ने मुझ में जो दीपक प्रकट किया है, उस तरह से दीपक से दीपक न प्रकट हो, वहाँ तक मैंने गुरु का ऋण अदा किया नहीं गिना जायेगा ।**

इसप्रकार अपने जीवन में प्राप्त हुए उच्चतम विकास समाज के व्यक्तिओं को भी प्राप्त हो, समाज बैठा हो, उसके लिए विविध-प्रवृत्तियाँ साकार करने के लिए हरि:ॐ आश्रमों की एक साधनरूप उन्होंने स्थापना की। एक आश्रम कुंभकोणम् दक्षिण भारत में स्थापित किया (१९५०), दूसरा नडियाद में (१९५५) और तीसरा आश्रम सूरत (१९५६) में स्थापित किया ।

हरि:ॐ आश्रम प्रेरित लाखों रुपयों की ट्रस्ट की योजनाओं से तथा उसकी प्राथमिक शाला के कमरे बनाने की प्रवृत्ति से अब कोई अनजान नहीं रहा है । तैराकीस्पर्धा, साइकिलस्पर्धा, स्नानागर बनाना, ज्ञानगंगोत्री जैसे ग्रंथों को प्रकाशित कराना, विविध क्षेत्र के संशोधनों के लिए लाखों रुपयों का दान करना, विद्यार्थिओं में विविध गुण विकसित हों इसके लिए विविध स्पर्धाएँ रखकर सुवर्णचन्द्रक देने, ललित कलाओं की स्पर्धाओं को आयोजित कराना आदि अनेक प्रवृत्तियाँ आश्रम द्वारा आज भी की जाती हैं ।

हरि:ॐ आश्रम द्वारा निर्मित मौनमंदिर आध्यात्मिक शाला के समान हैं । जिसमें जिज्ञासुओं को आत्ममंथन के लिए सभी प्रकार की अनुकूलता दी जाती हैं । मौन और एकांत के माध्यम से व्यक्ति अंतर्मुख हो, स्व का परिचय लेकर स्वगढ़न के लिए अपने आपको तैयार कर सकता है । **मौनमंदिर की आध्यात्मिक तालीम मानवी को महामानव**

की ओर ले जाती है । सचमुच ही श्रीमोटा के हरि:ॐ आश्रम, उसमें आये हुए मौनमंदिर तथा हरि:ॐ आश्रम की समाजोत्थान की प्रवृत्तियाँ विश्व में अजोड़ हैं ।

इसप्रकार **'उत्तम करणी करे तो नर का नारायण होई'** इसका साक्षात् उदाहरण श्रीमोटा का जीवन है ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

२. श्रीमोटा का शिक्षालक्षी चिंतन

'समाज' यह किसी भी देश के लिए मेरुदण्ड है । समाज के आधार पर देश खड़ा रहता है, टिकता होता है । परिवर्तनशील युग में वही संक्रांति की हवा के सामने सक्षम होकर टिक सकता है, जिसके पास गढ़ा हुआ, सीखा हुआ, स्वाभिमानयुक्त, चरित्रशील समाज हो, ऐसा सक्षम समाज तैयार करना यही शिक्षा का मुख्य हेतु हो सकता है । '**मुझे समाज को बैठा करना है ।**'-श्रीमोटा का यह जीवनमंत्र था । इस जीवनमंत्र की साधना के लिए उन्होंने स्वंय चिंतन किया, अपने आपको साधनापथ पर चला करके कठिन तपस्या की और कदम कदम पर संघर्षों से गुजर करके, प्राप्त हुए अनुभवों से आपश्री ने दोहन किया ।

श्रीमोटा ने शिक्षा संबंधी पुस्तकें, ग्रंथ या शास्त्रों का वाचन-अध्ययन या विवेचन-कुछ भी नहीं किया था, स्वयं के शरीरधारी जीवन में कुछ वर्ष शिक्षक के रूप में काम किया था उतना ही । अपने साधनामय जीवन के खास अनुभवों में से स्वयं ही अपने शिक्षक बनकर स्वयंसूझ प्राप्त करके, शिक्षा से अपना निर्माण किया । 'स्व' के निर्माण से 'समाज' के निर्माण तक उनकी जीवनसाधना अखंड रही ।

गाँधीजी के व्यापक प्रभाव में रहने पर भी उनका शिक्षा संबंधी चिंतन विशिष्ट रहा है । '**मात्र पढ़ाई नहीं, पर पूर्ण**

निर्माण' यह उनका सरल पर स्पष्ट चिंतन रहा है । साधकों को लिखे हुए उनके पत्र, उनके लिखे हुए पुस्तक, उनकी गद्य-पद्य रचनाएँ, उनके साथ हुई बातचीत तथा प्रश्नोत्तरी, स्वजनों को दिये हुए लिखित या मौखिक मार्गदर्शन आदि में सच्चे अर्थ में 'जीवन' जीने के लिए शिक्षालक्षी संपूर्ण चिंतन के दर्शन होते हैं ।

सामान्यतः 'अक्षरज्ञान' अथवा पाठ्यपुस्तक अथवा विविध विषयों के अभ्यासक्रम के अध्ययन को ही शिक्षा समझ लिया जाता है । मात्र डिग्री (पदवी) धारी शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ाने से समाज बैठा हुआ नहीं हो जायेगा, परन्तु शिक्षित (गढ़े हुए) लोगों के जीवन-परिश्रम से ही समाज खड़ा हो सकता है । दीपक से दीपक जलता है वैसे जीवन से जीवननिर्माण हो, उस दिशा में श्रीमोटा ने 'शिक्षण' को शिक्षा के व्यापक अर्थ में लिया है ।

माता के गर्भ से लेकर देहविलय तक शिक्षा की प्रक्रिया अविरत चलती आजीवन प्रक्रिया है । शिक्षा को बौद्धिक ज्ञानोपार्जन न मानकर जीवन-निर्माण के व्यापक स्वरूप में समझना चाहिए । मात्र पुस्तकीय ज्ञान अधूरा है, मात्र चरित्रनिर्माण भी अधूरा है । ज्ञान और चारित्र्य बिना की संस्कृति भी अपूर्ण है, इसलिए ही ज्ञान, चारित्र्य और संस्कृति के त्रिवेणीसंगम से ही समाज तीर्थराज प्रयाग हो सकता

है । संक्षेप में, संपूर्ण मानवजीवन शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन है ।

प्राथमिक शाला के दफ्तर में नाम लिखाकर शुरू होता और युनिवर्सिटी की स्नातक पदवी प्राप्त करके सामान्यतः पूर्ण होती शिक्षा यह शिक्षण नहीं, शिक्षा नहीं, पर मात्र क्रमिक रूप से आगे बढ़ता अभ्यासक्रम ही है । कुछ जानना और दिमाग में संग्रित करना वह मात्र माहिती एकत्रीकरण है । कुछ सीखना यह मात्र तालीम है, शिक्षा नहीं ।

शिक्षा तो मनुष्य के जीवन के विकास की प्रणाली है, व्यक्ति द्वारा अपनी शक्तिओं का विकास और उन्नति के लिए सभानता से किया प्रयास यह शिक्षा है, जो आजीवन जारी ही रहती है । शिक्षा की शुरूआत ही होती है, उसका अंत नहीं हो सकता है । शिक्षा तो पीढ़िओं से पीढ़िओं तक वर्षों के वर्षों तक चलती सामाजिक संक्रांति की पद्धति है, जो जो भी काल के व्यक्तिओं द्वारा सम्पन्न होती है । शिक्षा का कार्य व्यक्ति के समग्र व्यक्त्वि-निर्माण का है ।

जीवन में प्राप्त प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक प्रसंग और प्रत्येक व्यवहार शिक्षालक्षी है वैसी आत्मसूझ का प्रकटीकरण शिक्षा की सच्ची समझ है । जो कोई व्यवहार....

(१) व्यक्ति के ज्ञान की परिघि को विस्तृत बनाये ।

(२) इन्द्रियों की वृत्तिओं को ऊर्ध्व गति दे ।

(३) व्यक्ति की भावना और मनोभावों को संवेदनशीलता,

तीव्रता अर्पित करे ।

(४) व्यक्ति की अंतदृष्टि को गहराई दे ।

(५) व्यक्ति के हृदय को विशालता दे ।

इसप्रकार की सभी क्रिया-प्रक्रिया को शिक्षा कह सकते हैं । ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि मानवजीवन में जो कुछ सर्जित हुआ है, वह सब शिक्षा का ही सु-फल है ।

सच्ची शिक्षा की नींव संकुचित नहीं हो सकती । 'स्व' में समाज और समाज में 'स्व' का, सिन्धु में बिन्दु और बिन्दु में सिन्धु का एवं वृक्ष में बीज और बीज में वृक्ष की गहरी सूझ-यही सच्चे अर्थ में शिक्षा का प्रतिबिम्ब है । श्रीमोटा ने भी 'शिक्षा' के स्थान पर 'गढ़न' शब्द का उपयोग करके, शिक्षा की समझ दी है । समाजजीवन का प्रवाह शिक्षा के माध्यम से गतिशील होकर विकास की ओर गति करता है । शिक्षा या व्यक्तित्वगढ़न द्वारा ही चरित्र का निर्माण होता है, व्यक्ति का सामाजिकरण होता है और वह नर से नारायण बनने का यश पाने के योग्य बनता है ।

व्यक्ति के चिंतन, सूझ, समझ, कुशलताएँ, आदत, चरित्र, व्यक्तित्व, संस्कृति तथा जीवन जीने की छोटी बातें जिस पर आधारित हैं, उस आधार का नाम है-शिक्षा । शिक्षा जीवन की साधना है, जीवन का साक्षात् स्वरूप है । व्यक्ति और समाज के जीवन में जो कुछ विकास हुआ है, वह शिक्षण अर्थात् शिक्षा द्वारा ही हुआ है । 'श्रीमोटा कहते

हैं, हमारे आधार में तीन शरीर हैं – स्थूल, सूक्ष्म और कारण । स्थूल शरीर में पाँच तत्त्व–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं, सूक्ष्म शरीर तेज (अग्नि), वायु और आकाश तत्त्ववाला है तथा जल और पृथ्वीतत्त्व बिना का है । क्योंकि शरीर निराकार है ।' (गुजराती 'जन्म–मृत्युना रास', पृ–२७)

इसप्रकार शाला से मिला शिक्षण यह जीवन से प्राप्त शिक्षा का एक मात्र अंश है । प्रस्तुत शिक्षण को वैधिक शिक्षण कहते हैं । परन्तु बालक और बड़ी उम्र के व्यक्ति अपने आसपास के पर्यावरण में से कुटुंब, पड़ोसी, मित्रमंडल, समाज आदि और स्वयं को होते अच्छे–खराब अनुभवों से भी कुछ न कुछ सीखता ही है । यह अवैधिक शिक्षण है । शिक्षा में इन दोनों प्रकार के शिक्षण का समावेश होता है ।

श्रीमोटा ने तो संसार को पाठशाला और प्रयोगशाला कहा है । शिक्षा के इस व्यापक अर्थ को ध्यान में रखकर शिक्षा के विविध मुद्दों की विस्तृत चर्चा अब बाद में की है ।

श्रीमोटा ने तो अपने शरीरजीवन द्वारा 'स्व', 'स्वजन' और 'समाज' को गहरा मार्गदर्शन दिया है । एकांत में साधनाकाल के दौरान स्वयं को, मुलाकात या संपर्क के दौरान स्वजनों को और उत्सवों या सम्मेलनों द्वारा समाज को अत्यधिक मार्गदर्शन दिया है । उनकी अपनी खास छटा से और मौलिक चिंतनशैली से लिखे हुए लेख, पद्य रचनाएँ, स्वजनों को लिखे हुए पत्र, साधकों को लिखे हुए पत्र,

मौनमंदिर में बैठने से पहले, मौन में बैठनेवाले स्वजनों के समक्ष दिये हुए प्रवचन, कैसेट में टेप हुई टेपवाणी, उनकी अनेक कुटुंबों के साथ हुई मुलाकातें आदि सभी विवरण पुस्तकों में प्रकाशित हुए हैं ।

श्रीमोटा विरचित संपादित हुई अनेक पुस्तके हरि:ॐ आश्रम द्वारा प्रकाशित हुई हैं । श्रीमोटा का साहित्य अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ है । वे जो वाणी बोलते वह सरल अवश्य थी, पर अचूक थी । उनके लिखे पत्रों में जीवनगढ़न के क्रमिक अभ्यासक्रम के दर्शन होते हैं । बालक के जन्म से लेकर अंत तक जीवन कैसा जीना चाहिए, उसका सरल मार्गदर्शन उनके साहित्य में देखने को मिलता है । शरीर के जन्म के बाद शरीर के सामने जीवन पड़ा होता है । यह जीवन नष्ट न हो, इस तरह से जीवन का संपूर्ण गढ़न करने की बात श्रीमोटा ने की है ।

आपश्री के अधिकतर पुस्तकों के नाम 'जीवन' शब्द से शुरू होते हैं । उसमें श्रीमोटा के जीवन के अनुभवों का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है । श्रीमोटा का जीवन संघर्ष करते करते समाधानवाला देखने को मिलता है । जीवन जीते जीते आये हुए विचार, विचारों का व्यवहारु अमलीकरण और अंत में उन विचारों का मूल्यांकन ! इस तरह का प्रायोगिक रूप में पार किया जीवन श्रीमोटा का जीवन है । उन्होंने जो विचार सफल हो सके वही विचार कहे हैं । समाज को

सुधारने की बात छोड़ो, 'स्व' को सुधारने की बात की है । 'स्व' का द्वारा 'स्व' का संचालन, 'स्व' द्वारा 'स्व' का मार्गदर्शन और 'स्व' द्वारा 'स्व' का नियंत्रण करने की बात श्रीमोटा ने की है । स्वयं को ही अपना गुरु मानकर अपने जीवन का पृथक्करण करके स्वयंभू मार्गदर्शन प्राप्त करके जीवन को वेधक बनाने की बात की है । श्रीमोटा विरचित पुस्तकों में ये सारे विषय स्पष्टरूप से देखने को मिलते हैं ।

पहले बतलाया है उस अनुसार श्रीमोटा ने शिक्षा संबंधी एक भी मूल ग्रंथ कभी नहीं लिखा । साथ ही साथ यह भी कहना रहा कि एक भी पुस्तक में शिक्षा का उल्लेख न हो वैसा भी देखने को नहीं मिलता ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

३. बालशिक्षा

शिक्षा अर्थात् शिक्षित करना, व्यवस्थित शिक्षा-दीक्षा करना । सच्ची शिक्षा की शुरूआत बाल्यावस्था से ही होती है । जैसे जैसे बालक बड़ा होता जाता है वैसे वैसे उसके भविष्य का समय कम होता जाता है और भूतकाल का समय बढ़ता जाता है । इसीलिए ही बाल्यावस्था के मूल्यवान वर्ष बिना शिक्षित नहीं रहने चाहिए । पुत्र के लक्षण पालने से यानी कि पालने से ही बालशिक्षा की शुरूआत होनी चाहिए । एक चीनी कहावत के अनुसार, 'यदि आप एक वर्ष के लिए योजना करते हो तो वृक्ष उगाओ और यदि आप सौ वर्ष के लिए योजना करते हो तो बालक उगाओ ।' आज के विकसित ऐसे सभी देशों का विकास मात्र अद्यतन टेकनोलोजी पर आधारित नहीं है । परन्तु वहाँ दी जाती सघन बालशिक्षा भी उतनी ही सहयोगी है ।

श्रीमोटा ने साधकों, स्वजनों को लिखे हुए अनेक पत्रों में 'बालक का पालन-पोषण' अर्थात् संतानशिक्षा की बात की है । श्रीमोटा की बालशिक्षा संबंधी विचार निम्न अनुसार है :

'जो **जीव** बालक के जीवन को कुचल दे, वह हमारे मन राक्षसी प्रकृति का है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'बालक की समझ पर जबरदस्ती न हो । हमारे उत्तम संस्कार उसमें अपने आप पड़ें या उगें तो उत्तम । परन्तु बालक को अमुक ही खाना चाहिए, अमुक ही पहनना चाहिए, उस बात में हम उस पर बलात् कुछ भी लादे नहीं ।' (गुजराती, 'आवी मळे ए अवसर' पृ. ९-१०)

'संतान को हमारी तरह से नहीं, परन्तु उसकी तरह से उसे शोभे ऐसे उसे गढ़ने का काम भगवान ने हमें सौंपा है । उसे ओप चढ़ाने का कार्य योग्य तरह से न कर सकें तो हम धर्म चूक गये गिना जायेगा ।'

(गुजराती, 'जीवनपराग' पृ. ४५४)

'हमारा शास्त्र ऐसा कहता है कि मातापिता का प्रेम अनिवार्य है ।'

'शिक्षा मातापिता दे सके ऐसी कोई नहीं दे सके ।'

'बालक के जीवन में रह जाती (प्यार की) कमी उसके जीवनविकास को रोकनेवाली है, बड़े होने पर उसका उस बारे में दिल दु:खी हो सकता है ।'

(गुजराती, 'शेष-विशेष' पृ. ९९)

'संतान को प्रेमभाव से पालो-उसके आगे भगवान की बात करो, नामधुन सुनाओ, स्तनपान करवाते समय उसे खूब ही शांत और प्रेमभाववाले होकर एकाग्रचित से भगवान का नामस्मरण करते रहो, जिससे यह सारा भाव उसमें उतरे । पर प्रथम आपके दिल में तमन्ना आनी चाहिए ।'

(गुजराती, 'जीवनपराग' पृ. ४५५)

'आपके पुत्र के बारे में आप मातापिता किसी भी प्रकार की इच्छा मन में रखे नहीं । जिन बालकों पर उनके मातापिता के रागासक्त इच्छाओं के हमले हुए हैं, वे अधिकतर मातापिता चाहते हैं उससे उलटे निकले हैं, ऐसा परिणाम आया हुआ अनेक बार देखने को मिलता है । इसलिए उसे जैसा होना होगा वैसा होगा । हमें मन में उसके बारे में इस तरफ के कोई विचार नहीं आने देने हैं और उसे खेलाते समय तो खास ।' (गुजराती, 'जीवनपगथी', पृ. १२१)

'बालक को उत्तम बनाने का सानुकूल वातावरण जो मातापिता सर्जित नहीं कर सकते और तब भी उसके उत्तम होने की निष्क्रिय आशा रखा करते हैं तो वह तो खाली खाली बनावटी आकाशकुसुमवत् गिना जायेगा । बालक उत्तम हो ऐसा यदि हम सचमुच में चाहते हों तो वैसा वातावरण सर्जित करके उसका वैसा जीवन बनाने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न हमें करने चाहिए ।' (गुजराती, 'जीवनमंथन' पृ. २०८)

'आप भी बालक को संस्कार की भावना मिले ऐसे सुमेल होकर व्यवहार करें और परस्पर सद्भाव में रहोगे, तभी बालक को वैसे वातावरण में उत्तम संस्कार पाने का हो सके ।'

(गुजराती, 'लग्न हजो मंगलम्' पृ. ४३)

'बालक को बचपन से ही मान-अपमान का ख्याल होता है । इस बारे में तो हम जितना समझदारी से व्यवहार करें उतना उत्तम है । बालक के जीवनविकास का आधार

मातापिता की जीवन विषयक समझदारी के प्रकार भी रहा हुआ है । जीवनविकास में माँ के हृदय का प्रेम वह बहुत बड़ा भाग निभाता है ।' (गुजराती, 'जीवनसोपान' पृ. ८४)

'बालक हमारे वातावरण को कितनी तीव्रता से ग्रहण कर लेता है, उसकी हमें थोड़ी भी कल्पना नहीं होती है । उसकी ग्रहणशक्ति इतनी तो तेजस्वी होती है कि इससे हम में जो भी सूक्ष्मरूप से चल रहा होता है, उसकी छाप उस पर पड़े बिना नहीं रहती है । उसमें जिसे Subconcious state कहते हैं, वह अंत:स्थ चेतना अवस्था सजग है । यानी कि हमारी नींद के दौरान भी जो जागृत होता है, उसकी बालक में सतत जागृति होती है ।'

(गुजराती, 'जीवनपगथी' पृ. ८६)

'हमारे रागद्वेष, हमारे झगड़े हमारे क्लेश, कलह और हमारा पाजी मन और हृदय के संताप यह सभी उसके (बालक के) दिल में हमारी विरासत के रूप में उसे मिला करता है । उस विरासत से हमारे बालकों को उबारना हो तो मातापिता को अधिक उन्नत बनना ही होगा ।'

(गुजराती, 'जीवनपगथी' पृ. ८६)

'जो संस्कार बालक को बचपन में मिलते हैं, वे उसके हृदय में सूक्ष्म रूप से एकदम ग्रहण होते रहते हैं । और किसी समय पर वे संस्कार फूट निकलते हैं ।'

(गुजराती, 'जीवनपगथी' पृ. ८६)

'बालकों को खाने के बारे में खास करके माँ को ध्यान देने की जरूरत है । बालक को बचपन से ही यदि योग्य आहार-विहार के नियमों का पालन करवा सकते हों तो शरीर की सुखदायी स्थिति लम्बे समय तक रहती है । किसी का बलात् बालक पर न हो उस तरह से बुद्धि से काम हल करना चाहिए । बालक की स्वादेन्द्रिय विकसित हो यह आवश्यक है । इससे विविध बानगी माँ बनाकर खिलाये, पर वह बड़ा होने पर, उसे अनेक प्रकार की आदतें बंधनकारक न हो जाये उसे देखना भी माँ का विशेष धर्म है । **बालक ठंडा-सूखा खाये, उसे जो न पसंद हो, उसे कभी कभार बनाये, उसे बुद्धि से खिलाये, तंगी-कमी प्रेम से सहन कर लेने की आदत करवायें- ये सभी आदतें करवाने का कर्तव्य माँ का है ।** पर ऐसी समझ माँ में उगी हो तभी वैसा माँ उस अनुसार करवा सकती है ।'

(गुजराती, 'श्रीमोटा साथे वार्तालाप' पृ. १५४)

'बालक को प्यार करना किसी को आता ही नहीं, फिर बालक तूफान करे तो शिकायत करते हैं - बालक खराब है, तूफानी है - ऐसे वातावरण में बालक बिगड़े नहीं तो दूसरा क्या होगा ?' (गुजराती, 'श्रीमोटा साथे वार्तालाप' पृ. २१४)

'बालक का पाँच से आठ वर्ष का समय मानवजीवन में इतना उत्तम काल है कि उसका (बालक का) समय यूँ ही बेकार न चला जाये वह हमें देखना चाहिए ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'बालक, बालक मिटकर किशोरावस्था में प्रवेश करे और उसकी उम्र बारह से चौदह वर्ष की हो, तब वह समय बहुत विकट और तनाव का होता है । मनोवैज्ञानिक उस अवधि को - तरुणावस्थाकी दशा बतलाते हैं । इस उम्र में वह बालक भी नहीं है और युवक भी नहीं । ऐसे विकट काल में किशारों का गढ़न करना यह अति कठिन और नाजुक काम है । श्रीमोटा ने इस अवधि के बारे में भी अपने विचार प्रदर्शित किये हैं ।

श्रीमोटा विरचित विविध पुस्तकों में से चुने हुए ऊपर के अवतरण श्रीमोटा के शिक्षालक्षी तत्त्वज्ञान दर्शाते हैं । इसमें भी बालशिक्षा अथवा पालन-पोषण या संतान-शिक्षा संबंधी ये अवतरण आज के समाज को पूर्ण तरह से मार्गदर्शक बने वैसे हैं ।

वर्तमान भौतिकवादी समाजरचना में बालक की शिक्षा-दीक्षा करना और संतानों को शिक्षण देने का कार्य बहुत ही कठिन हो गया है । 'हम दो, हमारे दो' के छोटे परिवारों की रचनाओं में भी बालविकास या बालशिक्षा एक समस्या बन गई है । आज के कहलाते 'शिक्षित' मातापिता बालशिक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्ति पाने के लिए मात्र दो वर्ष या ढ़ाई वर्ष की उम्र से ही बालक को बालवाडी में भेजकर, कहलाता शिक्षा का श्रीगणेश करते होते हैं । बालक को शिक्षा के प्राथमिक पाठ परिवार से मिलते रहते हैं । कुटुंब शिक्षा की गंगोत्री है-यह बात

भूलकर शिक्षा के लिए शाला पर ही आश्रित हो जाते हैं । फलस्वरूप बालक बोलना सीखे, तब तुरन्त क, ख, ग, घ, च जैसा अक्षरज्ञान भी सीखता है । परिणामतः वह बिना शिक्षा-दीक्षा से, बिना 'शिक्षा' वह शिक्षित बनने की ओर आगे बढ़ता है । जो भविष्य में मातापिता के लिए 'समस्या' बनता है ।

श्रीमोटा के मंतव्य अनुसार मातापिता के प्रेम की सबसे अधिक आवश्यकता बालक को होती है। जिंदगी का प्राथमिक पाठ वह मातापिता के प्रेमपूर्ण व्यवहार से ही सीखता होता है । श्रीमोटा का स्पष्ट मानना है कि जैसी शिक्षा मातापिता दे सकते हैं वैसी कोई नहीं दे सकता है ।

यह यथार्थता है कि बालक माता के गर्भ से ही शिक्षा की शुरूआत करता है । बालशिक्षा अथवा संतानशिक्षा का श्रीगणेश माता की स्नेहपूर्ण गोद से होता है । इसलिए तो विद्वान 'माँ' को उत्तम और श्रेष्ठ शिक्षक मानते हैं । श्रीमोटा के आग्रह अनुसार मातापिता बालकों के पालन-पोषण के बारे में बेपरवाह नहीं रह सकते हैं ।

श्रीमोटा बालक को पूर्ण स्वतंत्रता देने को कहते हैं । आपश्री का आग्रह है कि बालक पर बाहर से कुछ लादने में न आये । मार मारने से गधा कभी घोड़ा नहीं बन सके । वैसा मारने से बालक की समझ पर बलात्कार नहीं करना चाहिए । अपने हाथ, पैर, आँख, कान आदि का योग्य उपयोग करने में बालक स्वतंत्ररूप से अपनी ही बुद्धि का उपयोग करे ऐसी

परिस्थिति निर्माण करने का काम मातापिता का है । माता-पिता शिक्षक के रूप में देखरेख रखते रखते बालक को मात्र सूचना देने का ही कर सकते हैं । आज्ञापालन के बहाने से हुक्मबाजी नहीं चल सकती है ।

श्रीमोटा कहते हैं कि बालक को प्रेम से बुलाओ और प्रोत्साहन दो । बालक वह 'बालक' है, यह सतत याद रखो और प्रेम से उसे मार्गदर्शन दो, समझाओ तभी बालक अधिक समझने को तैयार होगा ही । सरकस के पशुओं की तरह उन्हें तालीम देने का छोड़कर, बालक की जिज्ञासावृत्ति को संतृष्ट करने में आयेगा तो संतानशिक्षा या बालशिक्षा के प्रश्न एकदम सरल हो जायेंगे । संक्षेप में, उसकी मौलिक स्वतंत्रता छीनी जाय वैसा व्यवहार बालक का विकास नहीं साध सकता है । **स्वाधीनता यह विकास की पहली शर्त है ।**

बालक का पालन-पोषण उत्तम हो, इसके लिए श्रीमोटा ने शर्त रखी है कि उत्तम व्यक्ति ही उत्तम कार्य कर सकता है । उनके चिंतन के अनुसार प्रथम मातापिता को उत्तम बनना होगा । सच्चे अर्थ में उन्हें मातापिता बनना होगा । *'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव'* का सामाजिक सन्मान यथार्थ बनाना होगा । मातापिता के सुमेलपूर्ण व्यवहार की असर बालक के विकास पर पड़ती ही है । वर्तमान समय में शिक्षित पतिपत्नी में अधिक घर्षण देखने को मिलता है । इससे वे मातापिता को परस्पर सद्भावपूर्ण व्यवहार करने को कहते हैं ।

बालशिक्षा–दीक्षा की पद्धति संबंधी श्रीमोटा बालक को पहले बालक बनने दो उस बात पर भार देते हैं । बालशिक्षा सुंदर ढंग से हो सके उसके लिए बालक समझदार, संस्कारी हो, उसके लिए उसके सामने भगवान की बातें करो । महापुरुषों के जीवनप्रसंगों कहो, समूहप्रार्थना, नामधुन आदि सुनाओ । श्रीमोटा ने माताओं को यह भी आग्रह किया है कि जब जब आप स्तनपान करवाते हो, तब बहुत शांत और स्नेही होकर नामस्मरण करते रहो, जिससे माता के संस्कार के सभी भाव उसमें उतरें । शिवाजी, विवेकानंद या गाँधीजी की भेंट समाज को माता ही दे सकती है ।

किसी भी बालक में बचपन से ही मान–अपमान की सूक्ष्म समझ रहती है ही । इस समझ को ध्यान में रखकर बालक के अहम् का हकारात्मक विकास हो वह देखना होता है ।

बालशिक्षा में बालपरवरिश संबंधी श्रीमोटा बतलाते हैं कि बालक की प्रकृति के अनुरूप उसका पालन–पोषण या गढ़न होना आवश्यक है । उनके मंतव्य अनुसार यदि मातापिता अपनी इच्छानुसार बालक के जीवन को मोड़ देकर दुराग्रह करते होंगे तो बालक का विकास रूँध जायेगा । **बालक तो भगवान ने दिया हुआ बहुमूल्य रत्न है । इस रत्न पर मात्र समझदारी से गढ़ने का काम ही मातापिता का है ।** बालक योग्य तरह से न बरते तो अब ऊबने की आवश्यकता नहीं

है या त्रासित होने का कारण नहीं है । प्रेमभाव से सहन करके उदारता से बालकों को समझाना यही उनको योग्य व्यवहार में लाने का मार्ग है । इसप्रकार मातापिता को हताश हुए बिना अपना कार्य करते रहने को बतलाया है ।

आजकल विकसित समाज में खास करके शिक्षित मातापिता बालक को मातृभाषा के बदले अंग्रेजी भाषा में शिक्षण लेने को मजबूर करते हैं । छोटा बालक कुछ अंग्रेजी शब्द बोले तो मातापिता खुश खुश हो जाते हैं । घर में कोई मेहमान आये तो 'ट्वीन्कल ट्वीन्कल' जैसी अंग्रेजी कविता या कड़कड़ाकर अंग्रेजी मूलाक्षरों (A. B. C. D.) बोलने के लिए बालक पर दुराग्रह करनेवाले मातापिता की संख्या छोटी नहीं है । सचमुच में तो परोक्षरूप से वैसे मातापिता अपने अहम् को पोषने के लिए ऐसा करते होते हैं । और उस समय छोटा बालक अपने निजानंद में व्यस्त हो या उसे गाने या बोलने की इच्छा न हो तब भी, उसे मजबूर करके ऐसा नाटक किया जाता है । इसे बालक पर का मानसिक बलात्कार कहते हैं या दूसरा कुछ ?

श्रीमोटा बतलाते हैं, 'बचपन में बालक को अंग्रेजी या दूसरी भाषाएँ अवश्य पढ़वा सकते हैं, परन्तु शिक्षण तो मातृभाषा में ही देना चाहिए । बालक को निज मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा दी जाय यह उत्तम है, बचपन में भी उसे अंग्रेजी न सिखायी जाय ऐसा कुछ नहीं है । **चार से सात**

वर्ष तक में बालक को अनेक भाषाओं का ज्ञान दिया जा सकता है पर शिक्षा केवल मातृभाषा द्वारा ही दी जाय यह अधिक योग्य है ।' (गुजराती, 'आवी मळे ए अवसर' पृ. ९) अन्य भाषा में ली जाती शिक्षा मात्र यादशक्ति या रटाई पर निर्भर होती है । बालक के मन में रही जिज्ञासावृत्ति, कुतूहलवृत्ति संतुष्ट करनी हो तो समझशक्ति विकसित करनी होगी । पर समझ की शक्ति पैदा करनी हो तो मातृभाषा में शिक्षा देना अति महत्त्वपूर्ण है । श्रीमोटा अंग्रेजी भाषा के विरोधी नहीं हैं । योग्य समय पर और योग्य उम्र में अंग्रेजी अच्छी तरह सीखे यह भी आज के टेंकनोलोजी के जमाने में बहुत ही आवश्यक हैं ।

बालकों में जब जातीय विकास खड़ा हो, तब हकारात्मक शमन होना चाहिए । किशोर-किशोरियों में तेरह-चौदह वर्ष की उम्र में खड़ी होती जातीय वृत्ति कुदरती है। उसे धिक्कारने की जरूरत नहीं है। **परन्तु शारीरिक श्रम द्वारा ऐसे विकार को फैलने से रोक सकते हैं ऐसा श्रीमोटा कहते हैं ।** इसीसे ही वे इस उम्र के बालक (किशोर) शारीरिक श्रम करे उस ओर सभी का ध्यान खींचते हैं । उपरांत इस उम्र में किशोरों अपने रस के क्षेत्र में आगे बढ़े और एक तरह के मनोयोग (होबी) के बीज रोपे, यह भी एक दूसरा मार्ग है । उम्र बढ़ने के साथ ही बीज से 'आसक्ति' जो भी विद्यार्थी के जीवन के एक भागरूप हो जाय और फुरसद के समय का श्रेष्ठ

उपयोग कैसे करे वह प्रश्न खड़ा न हो । आधुनिक समाज में दृष्टिपात करें तो अब भारत भी 'टी.वी. कल्चर' की ओर बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है । शहर के 'पोश' विस्तारों में रहते कुटुंबों के बालक वैकेशन दौरान चेनलों पर हररोज लगभग दो चलचित्र देखते हों, वह मानो बहुत स्वाभाविक हो गया है । बालकों के मातापिता को कुछ अनुचित नहीं लगता है । यही एक बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रश्न है । बालक टी.वी. देखे ही नहीं ऐसा कहने का यहाँ आशय नहीं है । परन्तु उसमें पसंदगी का स्थान होना अनिवार्य है ।*

इसप्रकार बालशिक्षा और संतान-लालन-पालन की बात में श्रीमोटा बतलाते हैं कि मातापिता का व्यवहार प्रेमपूर्ण होना चाहिए, बालक को स्वतंत्ररूप से विकसित होने देना चाहिए, मातापिता के आग्रह या मंतव्य बालक पर लादने नहीं चाहिए । **हुक्मबाजी से नहीं, समझाकर काम लेना चाहिए, कुटुंब का वातावरण उत्तम हो, वह देखना चाहिए, मातृभाषा में ही शिक्षा का आग्रह रखना चाहिए । बालक का सर्वांगी विकास हो, इसके लिए मातापिता को शिक्षक रूप में केवल मार्गदर्शन देते देते सूचना देकर बालकरूपी रत्न पर विकासलक्षी पक्ष रखने का कार्य करना है ।**

संक्षेप में कह सकते हैं कि बालक स्वयं ही अपने को

---

* आज के जमाने में मोबाइल फोन और आइपेड का उपयोग भी इसी प्रकार का विकराल प्रश्न बालकों में है ।

सिखाता है । केवल कुटुंब के व्यक्तिओं को आगे बढ़ने के लिए उसे सहाय करनी है । बालक के मार्ग में आती हुई कठिनाइयों को मातापिता दूर करते जायेंगे तो ज्ञान स्वतः बाहर आयेगा । मातापिता या शिक्षक को तो मात्र जमीन जोतकर नरम करनी है, जिससे बीज से अंकुरण अपनेआप सरलता से बाहर आये । फिर उसके आसपास मार्गदर्शन की बाड़ बनानी चाहिए, जिससे यह अंकुरण नष्ट न हो जाये । रोज अंकुरण को जरूरी हवा-पानी (साधनों) पर्याप्त देने चाहिए । परिणामतः भविष्य में अंकुरण पूरे कुटुंब को शीतलता दे वैसा घटादार वृक्ष बनेगा । बालक का एक कोमल पौधे की तरह जतन करने में आये तो उसमें से वह वटवृक्ष होकर कुटुंब को, समाज को तथा देश को शीतल छाया अपनी अपनी अलग तरह से देगा ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

४. विद्यार्थी और अभ्यास

शिक्षा में आज विद्यार्थी केन्द्रस्थान पर है । शिक्षण का संपूर्ण ढाँचा विद्यार्थी के आसपास वृत्ताकार में बँधा देखने को मिलता है । परिणामतः विद्यार्थी ध्यानाकर्षक पात्र बन रहा है । आज सबकी आँख और उँगली विद्यार्थी तरफ लगी है । बालमंदिर से लेकर कॉलेज तक सभी कोई विद्यार्थी को शिक्षण देते हैं, पढ़ाते हैं और स्नातक की पदवी प्राप्त करने में मदद करते हैं । परन्तु आदर्श विद्यार्थी कैसा होना चाहिए इस विषयक चिंतन, मनन, संशोधन जरूरी है । १९९१-९२ के शैक्षणिक वर्ष में युनिवर्सिटी शिक्षकों की नजर से तथा माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों की नजर से आदर्श विद्यार्थी कैसा होना चाहिए उसके दो अभ्यास गुजरात युनिवर्सिटी के शिक्षण विभाग में हुए हैं । **विद्यार्थी सच्चे अर्थ में विद्यार्थी बना रहे उस प्रकार के गढ़नलक्षी शिक्षण का सर्वत्र अभाव देखने को मिलता है । आज शाला में जाते, कॉलेज में जाते और युनिवर्सिटी डिपार्टमेन्ट में जाते लड़के-लड़कियाँ देखने को मिलते हैं । पर 'विद्यार्थी' कहीं नहीं मिलता अर्थात् 'सच्चे अर्थ में शिक्षा लेनेवाला' अथवा 'अभ्यास करनेवाला' बहुत ही कम मिलते हैं । इसके मूल में देखें तो केवल पदवी प्राप्त करने**

के लिए परीक्षालक्षी शिक्षा ने आज के विद्यार्थी को मात्र 'परीक्षार्थी' बना दिया है । इसीसे ही वर्तमान युग में विद्यार्थी सभी के लिए 'प्रश्नार्थचिह्न' बना है ।

विद्यार्थी कैसा होना चाहिए ? उसमें कौन-कौन से गुण विकसित करने चाहिए ? उसका जीवनढाँचा कैसा होना चाहिए ? आदि बातों में आज का कहलाता शिक्षण पंगु दिखता है । गुणपत्रक में आये अच्छे प्रतिशत यही विद्यार्थी के मूल्यांकन का मापदंड है । चरित्रवान, विवेकी, विनयी, परिश्रमी, गुणवान ऐसे अच्छे विद्यार्थी से केवल अच्छे प्रतिशत से पास होनेवाले विद्यार्थी का ही समाज में मानपान बढ़ गया है । 'होशियार विद्यार्थी' और 'अच्छा विद्यार्थी' के बीच का भेद बढ़ता जाता है । इससे सभी को अच्छे बनने में नहीं केवल होशियार (परीक्षा की दृष्टि से) बनने में रुचि जागी है ।

सच्चे अर्थ में विद्यार्थी अर्थात् विद्या का अर्थी, विद्या का इच्छुक, शिक्षा लेनेवाला, अध्ययन करनेवाला, विद्या हेतु आतुर आदि । *'सा विद्या या विमुक्तये'* विद्या का अर्थ यह है कि जो मुक्ति दिलाये । यानी कि मुक्ति की आराधना करनेवाला और विद्या की (कुशलता, पढ़ाई, गढ़न) साधना करनेवाले सभी कोई विद्यार्थी कह सकते हैं । मुक्ति की आराधना करनेवाला आजीवन विद्यार्थी कहलाता है, समय की सीमाएँ उसे बंधन में बाँध न सके ।

श्रीमोटा ने विद्यार्थी को 'अध्ययन करनेवाला' के रूप में विशाल फलक पर रखा है । उनके विशाल दृष्टिकोण के अनुसार केवल शाला या कॉलेज में पढ़ते व्यक्ति ही विद्यार्थी हैं ऐसा नहीं । परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अलग अलग क्षेत्र में अलग अलग तरह से विद्यार्थी ही है । उनके चिंतन अनुसार संसार यह एक विशाल पाठशाला है और सभी उसके विद्यार्थी हैं । उनकी विद्यार्थी की परिभाषा में साधक, अभ्यासी और व्यक्तिमात्र सब कोई विद्यार्थी ही हैं । श्रीमोटा ने 'साधक' को उद्देश करके जो जो विचार रखे हैं, वे सारे के सारे विचार आदर्श विद्यार्थी के संदर्भ में शिक्षालक्षी हैं । 'अभ्यासी को' नामक काव्य रचना करके श्रीमोटा ने आदर्श विद्यार्थी का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है । तथापि अनेक स्थानों पर विद्यार्थीसंबंधी उनके विचार प्रकट हुए हैं, जो निम्नानुसार हैं–

प्रार्थना, शांति और पुरुषार्थ यह साधना करनेवाले (विद्यार्थी) के तीन आवश्यक लक्षण हैं ।'

(गुजराती 'जीवनपगरण', पृ. २०)

'जो करना हो, वह आज का काम हो वह आज के आज पूरा करने की आदत डाले ।'

(गुजराती 'शेष-विशेष', पृ. ४६)

'प्रमाद सम दूसरा कोई शत्रु जीवन का नहीं,
टाल सके न जो, उसे सच्चा अभ्यासी न गिनो ।'

(गुजराती 'अभ्यासीने', पृ. १५)

'साधक में (विद्यार्थी में) ज्वलंत जिज्ञासा, निष्ठा, वैराग्य और चेतन के अनुभव के लिए अपार और अथाह महत्त्वाकांक्षा तो उसे कभी एक की एक दिशा में बिठाकर नहीं रख सकती है । ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'साधक (विद्यार्थी) कभी सिर पर हाथ रखकर नहीं बैठ सकता है, वह तो जिस तिस का योग्य हल निकालने के लिए संघर्ष किया करेगा ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'साधक का (विद्यार्थी का) प्रत्येक कार्य सहेतुक होना चाहिए ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'हो सके मुक्त जिससे वह विद्या सत्य जाननी,
यत्न करें वह विद्या सीखने के लिए वह पराक्रमी ।'

(गुजराती 'अभ्यासीने', पृ. २१)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा विद्यार्थी (साधक) को बोधात्मक समझाते हैं । उनके मतानुसार विद्यार्थी (साधक) में महत्त्व के तीन लक्षण जैसे कि प्रार्थना, पुरुषार्थ और शांति होने आवश्यक हैं । ज्ञानप्राप्ति की शुरूआत प्रार्थना के मंगलाचरणों से होनी चाहिए । जिससे व्यक्ति का चित्त, हृदय और पूर्ण शरीर उसमें जुड़ सके । प्रार्थना, में अहम् पिघलाने की शक्ति है, अहम् पिघले तभी पुरुषार्थ की प्रेरणा जागेगी । पुरुषार्थ करते समय श्रीमोटा ध्येयनिष्ठा धारण करने

का बतलाते हैं । यानी कि विद्यार्थी की आँख के सामने ध्येय सतत खेलता रहना चाहिए । ध्येयप्राप्ति सरल बनाने के लिए दैनिक कार्य प्रतिदिन पूर्ण करने के आग्रह के साथ वे प्रमाद का त्याग करने को कहते हैं । उनके चिंतन अनुसार 'अभ्यासी' कभी प्रमादी नहीं हो सकता है । यानी कि प्रमाद अभ्यासी का सबसे बलवान शत्रु है । विद्यार्थी को आलस्य और प्रमाद को छोड़कर अपने हृदय में जिज्ञासा की ज्वलंत आग और मन में उच्च महत्त्वाकांक्षा भी रखनी ही चाहिए । वे बतलाते हैं,

'हृदय में ध्येय की जिज्ञासा प्रचंड जलती रहे,
इधर या उधर इससे अभ्यासी नहीं जाता पथ पर ।'

(गुजराती 'अभ्यासीने', पृ. २३)

अर्थात् प्रचंड जिज्ञासा के कारण विद्यार्थी ध्ययेपथ पर पुरुषार्थ करके सतत आगे बढ़ सकता है ।

वर्तमान युग में तो थोड़ी मेहनत करके, जानपहचान या पैसे के जोर पर उच्च पदवी हस्तगत करनेवाला विद्यार्थी-समूह बढ़ता जा रहा है । मास-प्रमोशन, जनरल ऑप्शन, एक ही आंतरिक परीक्षा जैसी अघटित दिशाशून्य माँगे युनिवर्सिटी द्वारा स्वीकृत होती जा रही हैं, जो विद्यार्थी को अधिक से अधिक भ्रष्ट कर रही है । परीक्षाखंडों से थैली भरकर कागज की चिट्ठियाँ मिलती हैं, लाखों रुपयों के खर्च से स्कवॉड (Squad) की रचना के बाद भी परीक्षा के प्रथम घण्टे में

परीक्षाकेन्द्र के समीप झेरोक्स की दुकान पर उत्तरों की नकल तैयार मिलती हैं, रुपयों से अध्यापक खरीद सकते हैं, धाकधमकी से निरीक्षक को भगा सकते हैं, परीक्षकों या क्लर्कों को पैसे खिलाकर गुणपत्र या उसके अंदर लिखे गुण बदल सकते हैं । इन बातों पर आज के विद्यार्थी का विश्वास बढ़ता जाता है । शिक्षणजगत में फैली इस कालिमा के बीच श्रीमोटा का विद्यार्थी संबंधी मार्गदर्शन आशा की किरण दे ऐसा है ।

श्रीमोटा के मंतव्य अनुसार सिर पर हाथ रखकर बैठनेवाला नहीं, परन्तु जागृत होकर, उठकर, ध्येयपथ पर उमंग से कर्म करनेवाला अभ्यासी ही सच्चा विद्यार्थी है । पढ़ने के बारे में श्रीमोटा समझपूर्वक पढ़ने की आदत डालने को कहते हैं । इसके अलावा रचनात्मक और समझ विकसित हो उस प्रकार का पढ़ने को समझाते हैं । आज विद्यार्थिओं में वाचनशून्यता देखने को मिलती है । अपना अभ्यास वह मुश्किल से पढ़ता है । घर घर टी. वी. चेनलों के कारण सब कोई टी. वी. बोक्ष के सामने बैठे रहते हैं, इससे पढ़ने की आदत ही नहीं पड़ती है । मन को उत्तम विचारों की भूख होती है । मन के विकास के लिए भी पढ़ने की आदत विद्यार्थिओं में होनी चाहिए । जिससे विकृतिओं का ह्रास हो ।

आज के विद्यार्थी पहली कक्षा से दूसरी में, दूसरी कक्षा से तीसरी में ऐसा पढ़ते-पढ़ते कॉलेज एफ. वाय. से टी. वाय. में इस तरह से हेतुविहीन विद्यार्थीजीवन पूर्ण करते हैं । श्रीमोटा आग्रहपूर्वक बतलाते हैं कि विद्यार्थी का कोई भी कार्य सहेतुवाला होना चाहिए । अर्थात् मुसाफिर को बस कहाँ जा रही है उसका ख्याल तो होना ही चाहिए ।

श्रीमोटा विद्या को व्यापकता और गूढ़ता की ओर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं-जो मुक्ति दे वह विद्या ही सच्ची है । ऐसी सच्ची विद्या प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी को सर्वगुणसंपन्न होकर पराक्रमी बनना चाहिए । चरित्र बिना का विद्यार्थी प्राण बिना की लाश समान है । वे सूचित करते हैं कि *'बिना चारित्र्य अभ्यास, अभ्यास उपयोगी नहीं वह ।'*

(गुजराती 'अभ्यासीने' पृ. ७)

यानी कि उच्च पदवी प्राप्त करनेवाला विद्यार्थी भले कितना भी विद्वान या होशियार हो, परन्तु उसका चारित्र्य शुद्ध नहीं होगा तो उसका जीवनतेज अस्त हो जाता है । इसप्रकार श्रीमोटा ने विद्यार्थी के गुण, विद्यार्थी का व्यवहार, विद्यार्थी का चारित्र्य और विद्यार्थी की जीवनशैली संबंधी विचार प्रकट करके आदर्श विद्यार्थी का चित्र स्पष्ट किया है ।

'जिस वस्तु को सीखना है, उसका पक्का अभ्यास होगा तो ही आयेगा ।' ('जीवनसोपान' पृ.)

'अभ्यास अर्थात् हमने जो ध्येय निश्चित किया है उसका ही सतत चिंतन ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'जिस अभ्यास में मस्ती नहीं, जोश नहीं, अधीरता नहीं, दिलचश्पी नहीं और गंगा के प्रवाह जैसा सतत एकसा बहता रहता उन्मादयुक्त भाव नहीं रहता है, तब तक जैसे तैसे अभ्यास से चेतन को अनुभव करने का कार्य कभी सफल नहीं हो सकता है ।' ('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

'ज्ञानपूर्वक के अभ्यास की असर जीवन में प्रकट हुए बिना रह सके सही ?' ('जीवनपुकार', पृ.)

'अभ्यास दृढ़ होने पर उसमें हृदय भी ढलता और वह शामिल होता है । अभ्यास से एक प्रकार की लत जागती है । ऐसी लत में एक प्रकार अभ्यास की परम्परा हो जाना भी संभव है, इससे अभ्यास में बारम्बार बुद्धि द्वारा, हृदय के भाव द्वारा भावना का उद्दीपन बारम्बार करते रहना ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'जिस तिस काम का जैसे जैसे अभ्यास करने से उस काम की समझ पड़ा करती है ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'सीखा हुआ भी अभ्यास बिना भूल जाते हैं । अभ्यास होगा तभी पक्का रहे ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

अभ्यास और विद्यार्थी-छाया परछाई की तरह जुड़े हैं । 'अभ्यास' संबंधी श्रीमोटा के विचार विद्यार्थी के लिए बहुत

ही प्रेरणादायी हैं । सीखे हुए किसी भी विषय के लिए अभ्यास आवश्यक हैं । तैराक आत्महत्या करने पानी में कूदे, तब भी वह डूब सकता नहीं, क्योंकि उसे तैरने का प्रत्यक्ष अभ्यास होता है । यानी कि अभ्यास से ही उस कार्य में पूर्णता आती है । चेतन का अनुभव करने के लिए श्रीमोटा अभ्यास में मस्ती, जोश, आवेश, सातत्य, दिलचश्पी जैसे गुण विकसित करने का सूचित करते हैं ।

आज के विद्यार्थिओं में अभ्यास की आदत बिलकुल देखने को नहीं मिलती है । परिणामस्वरूप वे जीवन में किसी भी कार्य में पूर्णता नहीं पा सकते, पूर्णता नहीं है, वहाँ तक संतोष नहीं है और जहाँ संतोष नहीं वहाँ आक्रोश, गुस्सा, उद्वेग, निराशा आदि जीवन में छा जाते हैं, जो जीवन में नीरसता पैदा करते हैं । श्रीमोटा ज्ञानपूर्वक के अभ्यास के लिए हृदय उड़ेलने को कहते हैं । साथ साथ अभ्यास में प्रकट होती एक प्रकार की प्रथा को दूर करने के लिए भावना को जागृत रखने को समझाते हैं । उदाहरण के रूप में, डाकिये को प्रतिदिन चलने का अभ्यास होने पर भी उसका स्वास्थ्य नीरोगी न हो, इसकी पूरी संभावना रहती है । दूसरी तरफ 'स्वास्थ्य की भावना' के साथ चलने का अभ्यास जो भी व्यक्ति का स्वास्थ्य को नीरोगी बनाता है । इसप्रकार अभ्यास में भावना का तत्त्व समाना चाहिए ।

किसी भी कार्य में रस तभी जागेगा, जब उस कार्य में समझ उगे । पर समझ कब प्रकट होगी ? जब अभ्यास का सातत्य बना रहे तब, यानी कि कार्य में रसनिर्माण का हेतु भी अनिवार्य है । विद्यार्थिओं को यह बात ध्यान में लेनी बहुत ही जरूरी है ।

अभ्यास के अभाव से कोई भी सीखा हुआ भूल जा सकते हैं । इससे श्रीमोटा अभ्यास का सातत्य रखने का सूचित करते हैं । आधुनिक मनोविज्ञान में भी 'मुहावरा' (प्रेक्टिस) को अध्ययन में खूब ही महत्त्व दिया जाता है । बेशक, यह मुहावरा ठीक से समझकर करना होता है । नहीं कि यंत्रवत् । Learning की एक पुस्तक में एक सुन्दर उदाहरण इस बारे में पढ़ने में आया था । विद्यार्थी ने शिक्षक को चिट्ठी लिखी थी कि 'As I have a headache, I have went home.' शिक्षक ने विद्यार्थी को सौ बार 'I have gone home' लिखने को दिया । विद्यार्थी ने लिखकर दिया । चार दिन के बाद किसी कारणसर उसी विद्यार्थी को घर जल्दी जाने का हुआ, तब चिट्ठी में लिख दिया 'I have went home' विद्यार्थी जो भूल करे उसमें किस प्रकार की भूल हुई है, वह ठीक से समझाये और दो तीन उदाहरणों द्वारा समझायें तो विद्यार्थी अपनी भूल का हार्द समझ सकेगा । यंत्रवत् सौ बार या दो सौ बार समझ कर या समझे बिना, लिखने की शिक्षा करने से परिणाम ऊपर जैसा ही आयेगा

न ? इससे मुहावरा में भी मूलभूत रूप से सच्ची समझ आवश्यक है । सही समझकर मुहावरा करने में आये तो 'त्वरा' का नया परिमाण जुड़ेगा । और थोड़े समय में वही काम अच्छा होगा ।

श्रीमोटा एक साधक को पत्र में लिखते हैं,

'अभ्यास से जो भी कुछ हो सकता है । भूल जाये तो पुनः अवश्य अभ्यास हो सकता है । हमारे दिल में सचमुच भावना प्रकट हुई हो तो भी सरलता से अभ्यास हो सकता है । यह तो कड़ा परिश्रम करने का मार्ग है । होते होते होता है और लगते लगते लग जाता है । भगवान के स्मरण का अभ्यास निर्दोष से निर्दोष उपाय है । इसलिए उसे उत्साह, उद्योग और प्रेम से लगे रहना है ।'

('जीवनमंथन', पृ.)

उपरोक्त अवतरण शिक्षण की प्रक्रिया में भी बहुत ही अनुकूल हैं । 'अभ्यास' के बदले 'मुहावरा (प्रेक्टिस) शब्द रखा जाये और 'भगवान के स्मरण का अभ्यास' की जगह 'सीखने के विषयों का मुहावरा' रखा जाय तो प्राथमिक कक्षा से लेकर युनिवर्सिटी कक्षा के अध्ययन को यह बात लागु पड़ती है । परन्तु अंतिम वाक्य में श्रीमोटा ने जो शर्त रखी है वह अति महत्त्वपूर्ण है । जो कोई अभ्यास या मुहावरा (प्रेक्टिस) करने में आये वह तनदिही, उद्योग और प्रेम से करना जरूरी है । यदि विषय में रस आने लगे तो कुदरती

ढंग से उस विषय के लिए प्रेम उभरने लगे, पढ़ने या अभ्यास करने में ऊब नहीं आयेगी । आज तो विद्यार्थी स्वयं मेहनत करके सीखने के बदले संक्षिप्त रास्ता अपनाने लगा है, ट्युशन रखकर, केवल 'अपेक्षित' तैयार करके, पहचान या सिफारिस के आधार पर अधिक गुणांक पाने, परीक्षाखंड में नकल की चिट्ठियाँ ले जाना, सुपरवाइजरों को फोड़ना, दूसरों की उत्तरवही से चुराना (अनेक बार जबरदस्ती से), परीक्षा (जाहिर परीक्षा हो तो) निपटने के बाद पिता या बड़े बैठे हों वहाँ से खड़े करके, घूमते कर देना ! सचमुच तो जो ध्येय किया हो, उसका सतत मनन और चिंतन करके अभ्यास करने से जीवन में रस, समझ, जोश और उत्साह का निर्माण होता है, जिससे संतोष और ध्येयपूर्ति सरलता से प्राप्त हो सकते हैं ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

५. श्रीसद्‌गुरु और विद्यार्थी

श्रीमोटा ने 'श्रीसद्‌गुरु' विषयक अत्यधिक कहा है । आपश्री ने 'गुरु' विषय पर विस्तृत ग्रंथ भी लिखा है । गुरुवाद नहीं, परन्तु 'गुरुत्व' की समझ देते इस विस्तृत ग्रंथ में १५ खंडों में ४९ अध्याय रचकर २६२२ जितने श्लोकों की रचना समाविष्ट हुई है । इसके अलावा स्वजनों के सामने, साधकों के सामने, मौनमंदिर के स्वजनों के सामने गुरु विषयक बहुत ही सुन्दर पेशी की है । प्रस्तुत प्रकरण में साधक और श्रीसद्‌गुरु की चर्चा विद्यार्थी और शिक्षक के संदर्भ में की गयी है । पेज पर पेज भरते जायें उतने विचार श्रीमोटा ने 'गुरु' के बारे में प्रस्तुत किये हैं । यहाँ केवल शिक्षा के संदर्भ में उदाहरण के रूप में बहुत ही मर्यादित विचारों पर ध्यान केन्द्रित किया है ।

'श्रीसद्‌गुरु को हमारे हृदय में जीवित करना है ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'जिस साधक को हमारे हृदय में जीवित करना है ।'
('जीवनसंदेश', पृ.)

'श्रीसद्‌गुरु साधक (विद्यार्थी) की कमजोरियों के प्रति कठिन से कठिन होकर उसका उसे पूरी तरह से भान करवाता है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'शिक्षक का कार्यक्षेत्र मनोविकास या बुद्धिविकास है । उस तरह गुरु का कार्यक्षेत्र मानवस्वभाव का दिव्य रूपान्तर करना है । शीलविकास का कार्य भाग्य से ही शिक्षक के कार्यक्षेत्र में आ जाता है । मानसिक विकास थोड़ा बहुत शिक्षक करवा सकता है । आध्यात्मिक विकास होता हो तो बहुत ही साधारण और परोक्ष रूप से । इस तरह से जहाँ शिक्षक का कार्य समाप्त होता है, वहाँ से श्रीसद्‌गुरु का कार्य शुरू होता है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'गुरु अर्थात् उसके जीवनविकास की सीढ़ियाँ उत्तरोत्तर चढ़ानेवाली एक सीढ़ी ।'

('जीवनसंदेश', पृ.)

'शिक्षक के बतलाये अनुसार किये करने का उत्साहपूर्वक जोश रखनेवाला विद्यार्थी पढ़ सकता है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'साधक (विद्यार्थी) ऐसा माने कि मैंने गुरु को इतना भेंट किया, इसलिए मेरा कल्याण ही हो जायेगा तो यह एक भ्रम है ।' ('जीवनसंदेश', पृ.)

'साधक और गुरु के बीच हृदय की सरलता, सहजता और खुला भाव जितना विस्तृत रूप से हो उतना उत्तम है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'गुरु के अंधे अनुकरण से कोई फायदा होनेवाला नहीं

है । यह तो जीवन की अज्ञानता में मृत्यु है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'साधक का हृदय और श्रीसद्गुरु का हृदय ये दोनों बिलकुल एकराग और एकमेल हों, यह फतेह की एक सूक्ष्म चाबी है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'गुरु-शिष्य के बीच का हेतु ही शिष्य की चेतना जगाने के लिए है, इससे वह संबंध ही ऊर्ध्वगामी हो सकता है ।' ('जीवनसंदेश', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा ने साधक अर्थात् विद्यार्थी और गुरु यानी कि शिक्षक के बीच के संबंधों की विस्तृत चर्चा करके दोनों के दोनों ओर के व्यवहार की समझ दी है । आपश्री श्रीसद्गुरु को केवल व्यक्ति नहीं गिनते पर चेतन की अभिव्यक्ति मानते हैं । साधक यानी कि विद्यार्थी के हृदय में गुरु का ऐसा चेतनयुक्त भाव प्रकट करना जरूरी है । जब विद्यार्थी चेतना का अर्थात् गुरु का महत्त्व समझता हो जाता है, तब उसके जीवन में नवप्रकाश, नूतन ज्ञान कदम कदम पर प्रकट होता जाता है ।

श्रीमोटा गुरु और शिक्षक के बीच का सूक्ष्म भेद समझाते हुए बतलाते हैं कि जहाँ शिक्षक मर्यादा अनुभव करे, वहाँ गुरु अमर्यादितरूप में काम करवा सकता है । यानी कि चारित्र्य, शील, गुण और आध्यात्मिकता का विकास शिक्षक के क्षेत्र में भाग्य से ही आता है । इस क्षेत्र में गुरु ही ऊर्ध्व

विकास करवा सकता है । गुरु यह तो सभी कला का प्राण है । 'श्रीसद्गुरु यह कोई मिट्टी का पुतला नहीं है । वह तो लोहार है, सुथार है, राज है, शिल्पकार है, चित्रकार है, जीवन का निर्माता है । इसप्रकार सभी प्रकार के कारीगरों का उसमें समन्वय है । उसमें सभी कलाएँ हैं, कला का वह प्राण है ।'

('जीवनमंथन', पृ.)

यों, जीवन का निर्माता यानी गुरु । विद्यार्थी की कमजोरी दूर करने के लिए शिल्पकार की तरह हथौड़े भी मारे । पर यह सब विद्यार्थी की सुषुप्त शक्तिओं को जाहिर कर जाग्रत करने के लिए होता है । श्रीसद्गुरु तो ऊपर आने के लिए सीढ़ी है । परंतु इस सीढ़ी के पाये चढ़ने के लिए विद्यार्थी में तमन्ना, आतुरता, उत्साह, उत्कटता होनी जरूरी है । **यानी कि साधक (विद्यार्थी) गुरु कर ले और गुरु ही सब करेंगे वैसा माने तो कुछ भी नहीं हो सकेगा । यह तो मात्र भ्रम है । गुरु तो जीवन की दिशा देगा, जीवन का मार्ग बतलायेगा पर चलना तो विद्यार्थी को है । 'पढ़ने का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मेहनत स्वयं करनी रहती है । शिक्षक तो सिखायेगा, पर उसे मन में उतारने के लिए विद्यार्थी को एकध्यान होना होता है । शिक्षक का यदि विद्यार्थी कुछ ध्यान पर ही न लेता हो और वह कहे कुछ और वह करे कुछ.... तो फिर वैसा विद्यार्थी ने पढ़ लिया समझो ।'** ('जीवनसोपान', पृ.) अर्थात् शिक्षक भी मात्र सीढ़ी है,

चढ़ने का काम विद्यार्थी का है, गुरु तो मात्र अच्छा अच्छा खिलवाये (विचार देगा), उसे पचाने की मेहनत विद्यार्थी को करनी है ।

शिक्षक और विद्यार्थी संबंधी बाबत में भी श्रीमोटा का मार्गदर्शन बहुत ही व्यवहारु और सरल है । शिक्षक का अंधानुकरण करने को वे मना करते हैं । ऐसा अनुकरण यह तो मृत्यु के समान है, ऐसा बतलाकर हृदय से सहज भाव से, खुल कर शिक्षक जो सिखाये, उसका स्वीकार करने का सूचन करते हैं । वे शिक्षक की स्वीकृति करने से पहले उन्हें जाँचने को भी सूचित करते हैं और विवेकानंद ने, श्रीराम-कृष्ण परमहंस की की हुई कसौटी भी याद दिलवाते हैं । विद्यार्थी और शिक्षक के बीच माँ और बेटे जैसा एकत्व जागना चाहिए । श्रीमोटा बतलाते हैं कि, 'बालक कहीं भी खेलता हो, तब भी माँ के अंतर में उसका सूक्ष्म भान रहा करता होता है । उस तरह गुरु का भाव साधक की प्रत्येक दशा में उसके पीछे रहा करता है ।' ('जीवनसंदेश', पृ.), यानी कि जैसे माँ अपने बालक पर कभी गुस्सा भी होती है, वैसे गुरु भी विद्यार्थी के प्रति इस अनुसार व्यवहार करता है । परन्तु माँ की तरह प्रकृतिवश नहीं, किन्तु सभानता से, सज्ञानरूप से, सचेतनरूप से, हेतुपूर्ण रूप से व्यवहार करता है । शिक्षक-विद्यार्थी के बीच के संबंध का हेतु विद्यार्थी की अर्थात् शिष्य की चेतना जगाने के लिए है ।

'गुरुवाद' के कारण निर्माण होती सामाजिक खराबी की ओर श्रीमोटा चेतावनी देते हैं और बतलाते हैं कि गुरुवाद को नहीं पर गुरुत्व को समझना है, वह भी जीवनविकास के लिए ही । अंत में तो जीवन का ऊर्ध्व विकास यही लक्ष्य हो सकता है । 'हमें इतना खास याद रखना है कि गुरु सर्वस्व नहीं है, जीवन ही सर्वस्व है ।' ('जीवनपुकार', पृ.) यानी कि अंधश्रद्धा रखे बिना पूर्ण और सच्ची श्रद्धा के साथ गुरुसंबंध रखकर जीवनविकास के लिए गुरु सर्वस्व नहीं, जीवन ही सर्वस्व है ।' ('जीवनपुकार', पृ.) यानी कि अंधश्रद्धा रखे बिना पूर्ण और सच्ची श्रद्धा साथ गुरुसंबंध बाँधकर जीवनविकास के लिए गुरु के पास से ज्ञानप्रकाश ग्रहण करते जाना चाहिए ।

यों, गुरु का विस्तृत अर्थ, गुरु-विद्यार्थी के बीच का व्यवहार एवं गुरु की अनिवार्यता संबंधी श्रीमोटा के विचार प्रत्येक विद्यार्थी के लिए मार्गदर्शक बनें वैसे हैं ।

प्रस्तुत चर्चा में गुरु साधक के बीच के संबंध में जो अधिकतर उल्लेख हुए हैं, वह साफ-साफ आज के शिक्षकसमाज के शिक्षक-विद्यार्थी के बीच के संबंधों को लागू नहीं कर सकते हैं । प्रस्तुत मर्यादा से अभ्यासी सजाग हैं । वैदिककाल में शिक्षक-विद्यार्थी के संबंध गुरु-साधक जैसे लगभग रहते । **आध्यात्मिक मार्ग पर प्रयाण करने के लिए उत्सुक व्यक्ति वह साधक, जब शिक्षणक्षेत्र में सच्चे**

अर्थ में विद्या (ज्ञान, समझ, विनियोग कौशल्यों आदि) प्राप्ति के लिए तनदिही से मेहनत करनेवाला वह विद्यार्थी । शिक्षक-विद्यार्थी के बीच के मानवीय संबंधों के बारे में बहुत संशोधन हुए हैं और शिक्षक को केवल शिक्षक के रूप में नहीं, परन्तु मार्गदर्शक और तत्त्वज्ञानी के रूप में बिरदाने में आया है । अरे, उसे 'मित्र' भी गिना है । The teacher is a friend, a guide and a philosopher.

शिक्षक और विद्यार्थी-दोनों पक्षों से आज जो चित्र देखने को मिलता है, वह बहुत ही निराशाजनक है । थोड़ी अतिरेकता जैसा लगे पर आज के शिक्षक में 'शिक्षक' के अलावा दूसरे अनेक स्वरूप हैं । उसी तरह आज के विद्यार्थी में 'विद्यार्थी' खो गया है । और बाकी का बहुत कुछ देखने को मिलता है । शिक्षणक्षेत्र में विद्यार्थी और शिक्षक '**दोन ध्रुव**' हैं । इन दोनों के बीच अटूट कड़ी का बंधन होता है ।

विद्यार्थी पढ़कर शाला या कॉलेज छोड़कर जाय तब भी अपने शिक्षक को न भूले—उसके साथ हुए प्रसंगों कोई एक बार मनन करे और वह शिक्षक को याद करते हुए उनके प्रति पूज्य या आदरभाव पैदा हो—ऐसा हो सके तो वह सच्चा शिक्षक । आज भी अनेक विद्यार्थी अनेक शिक्षकों को याद करते हैं पर उसका संदर्भ बदल जाता है । 'क' शिक्षक को वर्ग में हमने कैसा परेशान किया था ? 'ख' शिक्षक का

तो वर्ग ही कौन भरता था ? अगले साल के विद्यार्थी की नोट्स मिल जाये यानी पूरा हुआ ! 'ग' शिक्षक की कैसी मजाक उड़ाते थे ? उस 'ध' शिक्षक तो लड़किओं के पीछे पूरा ढीला नीचे झुक झुककर बात ही किया करता, मानो कभी कोई अच्छी लड़की ही न देखी हो ! ... इसप्रकार, आज का विद्यार्थी भी शिक्षक को याद तो करता रहता है, परन्तु उसमें आदर, पूज्यभाव नहीं होता है। हाँ, जो शिक्षक सचमुच अच्छी तरह से पढ़ाते होते हैं, 'विद्यार्थी का हित' हमेशा देखते हों, ऐसे शिक्षकों को पीछे से भी आदर मिलता है ।

विद्यार्थी हंस की तरह क्षीरनीर के बीच का अंतर अवश्य समझता है । परन्तु अनेक बार शिक्षक हैरान करेगा तो ? इस भय से अंदर से मसोसकर बैठा रहता है । अभ्यासक की दृष्टि से विद्यार्थी तो हमेशा निर्दोष होता है । सुकोमल उम्र के विद्यार्थिओं को तो कोमल पौधे की तरह जिस तरफ मोड़े उस तरफ मुड़ते हैं, परन्तु तरुणावस्था में आते ही चित्र बदल जाता है। और कॉलेजकक्षा में तो कितने ही विद्यार्थी राजकीय नेताओं के मोहरे बन जाते हैं । उनकी युक्तिप्रयुक्ति के अनुसार हड़ताल, तूफान, अयोग्य माँगे, अरे, वाइस चान्सेलर का घिराव करना, कान पर जलती सिगरेट चिपका देते हैं, ऐसी घटनाएँ सामान्य हो गई हैं, जो शिक्षणसमाज के लिए सचमुच लांछनरूप हैं। जब से शिक्षणक्षेत्र में सरकार

का हस्तक्षेप बढ़ गया है, तब से शिक्षण की मानो 'शनि की दशा' बैठी है । यदि शिक्षक या प्राध्यापक स्वयं ज्ञान के विषय में निस्तेज हो, उनमें कमी हो तो ऐसे लोग किस प्रकार का अध्यापनकार्य करेंगे ? ऐसे निस्तेज, प्रभावहीन शिक्षक विद्यार्थिओं में क्या प्रभाव डाल सकते हैं ? इन संयोगों में विद्यार्थी अशिस्तभरा व्यवहार करें तो केवल उनका ही दोष है ऐसा कह सकते हैं ? शिक्षणक्षेत्र में काम करते शिक्षक के शुभचिंतकों को इस बारे में चिंतन करके कोई रास्ता खोजना रहता है ।

जीवन में बना हुआ एकाध छोटा-सा प्रसंग भी मानवी पर कैसा असर कर जाता है और समय आने पर, उस प्रसंग को याद करके व्यक्ति कैसा भावविभोर बनता है, उसका तादृश्य उदाहरण तारीख २०-९-९२ के रविवार को श्रीमोटा के ९५ वें जन्मदिन उत्सव में श्री गुणवंतभाई शाह ने जो प्रवचन दिया उसमें सर्व प्रथम जो प्रसंग उद्धृत किया उसमें से मिलता है । (उनके वक्तव्य को शब्दशः उद्धृत नहीं किया सका है पर उसका सत्त्व बनाये रखने का प्रयत्न किया है ।) **श्री गुणवंतभाई ने कहा था, 'मैं छोटा था, तब से ही श्रीमोटा के संपर्क में आया था । सूरत के मौनमंदिर में अभी जो कुआँ है, उस कुँएँ का काम चलता था, तब खोदते खोदते जो मिट्टी निकले, उस मिट्टी को तसले में**

भरकर, सिर पर उठाकर, एक तरफ ढेर किया जाता । मैं उस समय दस या ग्यारहवीं कक्षा में रहा होऊँगा । यहाँ बैठे श्री झीणाकाका उसके साक्षी हैं । पर मुझे जो कहना है वह यह है कि श्रीमोटा भी हमारे साथ-साथ तसले में मिट्टी भरकर सिर में उठाकर ढेर में डाल आते थे ।'*

प्रसंग बहुत सामान्य लगता है, परन्तु श्रीमोटा कैसे स्वाश्रयी, नम्र और दूसरों के लिए आपश्री का व्यवहार कैसा पदार्थ-पाठ-रूप था, वह यह प्रसंग स्पष्ट करता है ।

शिक्षकखंड में बीड़ी-सिगरेट पीनेवाले या मसाला खानेवाले शिक्षक को, विद्यार्थी को बीड़ी-सिगरेट या मावा के पड़ीके का निषेध करने का कौन-सा नैतिक हक रहता है ?

छोटे बालक मुख्यतः अनुकरण द्वारा ही सीखते होते हैं और बड़ी उम्र के विद्यार्थीओं पर भी शिक्षक का आचार-व्यवहार अवैधिक रूप से असर कर जाता होता है । शिक्षक बालकों के 'आदर्श' हो जाते हैं । शिक्षक जैसे हों वैसे बनने के लिए बालक उत्सुक रहते हैं । इस संयोग में शिक्षकों की जिम्मेदारी प्रत्यक्ष रूप से बढ़ जाती है ।

विद्यार्थी और गुरु के बीच भावनापूर्ण संबंधों की सरल समझ श्रीमोटा ने दी है, जो विद्यार्थी के लिए पथदर्शक बनती

---

* डॉ. जे. एच. शाह उत्सव कार्यक्रम में उपस्थित रहे थे और उन्होंने अभ्यासक को यह प्रसंग अहमदाबाद में आकर कहा था ।

है। गुरुवाद के सामने चेतावनी गुरुतत्त्व की सूक्ष्म समझ देकर गुरुमहिमा के बारे में उनका लेख सचमुच अद्‌भुत है। गुरु करने से मुक्ति संभव नहीं है पर सरल अवश्य है। इसके लिए विद्यार्थी को स्वयं जागना पड़ेगा, पुरुषार्थ करना पड़ेगा, उस बात पर वे बल देते हैं। यानी कि अभ्यास—ऊर्ध्वजीवन की ओर का अभ्यास, ज्ञानप्राप्ति का अभ्यास, विद्यार्थी को स्वयं ही करना पड़ता है। अर्थात् गुरु तो मात्र नसेनी बने, पाये चढ़ने का अभ्यास विद्यार्थी को ही करना पड़े।

• • •

॥ हरि:ॐ ॥

६. स्त्रीशिक्षा

'मातृ देवो भव' भारतीय सनातन संस्कृति का यह उच्चतम मूल्य है । स्त्रीशक्ति को मातृशक्ति द्वारा अभिवादन करने में भारतीय संस्कृति है । किसी भी कुटुंब के चालक बल के रूप में केन्द्रस्थान पर यदि कोई शक्ति हो तो वह स्त्रीशक्ति है । जैसे बाहर की व्यवस्था का अधिष्ठाता पुरुष है, वैसे गृह का छोटा राज्य भोगने का अधिकार स्त्री के पास है । एक कहावत के अनुसार 'स्त्री यह प्रजा की माता है ।' समाज की सर्वश्रेष्ठता का और समाजजीवन के विकास का मूलभूत आधार स्त्री है । विकसित देशों की प्रगति के कारणों में महत्त्व का कारण वहाँ की स्त्रीशक्ति का विकास है, वहाँ सामाजिक, आर्थिक या कौटुंबिक स्तर पर स्त्री का विकास बहुत ही आगे हुआ है । भारत में मुगल युग की शुरूआत होने के बाद परिस्थिति बिलकुल विरुद्ध है । स्त्रीशिक्षा या स्त्रीविकास का प्रमाण बहुत ही नहींवत् है । स्त्रियाँ समाज का आधा अंग है । उनकी शिक्षा बिना समाज का उत्थान संभव नहीं है । **स्त्रिओं का जीवन सभी प्रकार से सर्वश्रेष्ठ रहा करे तभी समाज सर्वश्रेष्ठता प्राप्त कर सकेगा ।**

आज के दैनिकपत्रों में नजर डालें तो पता चलता है कि एक भी दिन ऐसा नहीं कि जिसमें स्त्रीअपमृत्यु या

स्त्रीआत्महत्या के समाचार न हों, उसके पीछे के अनेक कारणों में मूलभूत कारण स्त्री की सच्ची शिक्षा या स्त्रीनिर्माण का अभाव है ।

समाज को बैठा करने का जीवनमंत्र धारण करनेवाले श्रीमोटा स्त्रीशिक्षा (स्त्रीनिर्माण) को न ही भूले यह स्वाभाविक है, जैसे पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता वैसे समाज भी मात्र पुरुष शिक्षा से विकास नहीं कर सकता है । श्रीमोटा का विचार-प्रवाह देखते ध्यान में आता है कि उन्हों ने भी 'स्त्रीनिर्माण' (स्त्रीशिक्षा) पर बहुत बहुत कहा है । शालाकीय ढाँचागत कन्याशिक्षा के अलावा स्त्री के जीवन को ध्यान में रखकर स्त्रीनिर्माण की बहुत सी बातें श्रीमोटा ने बतलायी हैं । स्त्री का अधिकतर का जीवन ससुराल में जीया जाता है । इससे ससुराल में किस तरह व्यवहार करना है ? पत्नी के रूप में कैसे जीना ? आदर्शमाता के रूप में क्या क्या ध्यान में रखना है ? संतानप्राप्ति की वैज्ञानिक रीत और प्रसवकाल के समय ध्यान में रखने की बातें... ऐसी छोटी-छोटी बातों पर श्रीमोटा ने प्रस्तुत किये विचार सच्चे अर्थ में स्त्रीशिक्षा है ऐसा कहलाता है । श्रीमोटा की स्त्रीशिक्षा (स्त्रीनिर्माण) संबंधी विचार निम्न अनुसार है । स्त्री के सामान्य शिक्षण की बात में श्रीमोटा ने अमुक विधान किये हैं, जो नीचे प्रस्तुत किये हैं ।

'समाज में स्त्री का जीवन बिलकुल कुचला हुआ है । बचपन से ही उसे कहा जाता है कि - 'तू तो लड़की है । तुझसे ऐसा न होगा, वैसा न होगा ।' बड़ी होने पर अमुक तरह तरह की उसके चारों ओर बाड़ चुन दी जाती है । उन सभी की मानसिक असर उस पर हुए बिना नहीं रहती है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'हमारा समाज आज गिर गया है, उसका कारण हमारी माताएँ उन्नत नहीं हैं यह है । स्त्रीजीवन अपने सच्चे भावार्थ में जब उन्नति के शिखर पर पहुँचेगा, तब हमारा समाज भी चेतनावान बनेगा ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'खास करके माताओं में गुण और भावना विकसित हो यह देखना चाहिए ।'

('श्रीमोटा के साथ-साथ', पृ.)

'जिस समाज की माता है, समाज का पालन-पोषण करनेवाली है, उसकी जैसी जमीन होगी, वैसी प्रजा होनेवाली है । इसका जीवित भान हमारे जैसे पढ़े हुओं को नहीं हुआ है, यह भी एक कमनसीबी की बात है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

स्त्रिओं के प्रति सामाजिक उपेक्षा के लिए श्रीमोटा ने तीव्र रोष व्यक्त किया है । उनके मतानुसार 'स्त्री' जाति को बचपन से ही टोका जाता है कि 'तुम तो लड़की हो, तुमसे

ऐसा नहीं होगा, ऐसा ही होगा ।' आदि आदि । इससे स्त्रिओं में लघुताग्रंथि विकसित होती है । जो स्त्रीविकास में अवरोधक होती है । स्त्रीशिक्षण सहज बनाने के लिए स्त्रीस्वातंत्र्य और स्त्री की ओर विशिष्ट प्रकार से ही देखने का दृष्टिकोण बदलना होगा । जब शाला-महाशालाओं की भव्य इमारतें नहीं थीं वैसे वेदकाल में मैत्रेयी और गार्गी जैसी स्त्रियाँ ऋषिपद प्राप्त कर सकती थीं तो आज क्यों नहीं ?

श्रीमोटा स्त्री को जगतजननी के रूप में देखते हैं । उनके चिंतन के अनुसार देश, समाज और मानवजाति का आधार स्त्रीशक्ति पर है । इससे माता या स्त्री शिक्षित हो, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । कहावत है कि एक सुमाता तो सौ शिक्षक की गरज पूरी करती है । इसलिए ही स्त्री को सच्चे अर्थ में जगतजननी बनाने के लिए स्त्रीजीवन के अनुरूप गुण और भावना आये वैसा शिक्षण जरूरी है । जो समाज स्त्री के स्त्रीत्व का और माता के श्रीत्व का दर्शन करता होगा, वह समाज ही उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है । 'स्त्रिओं के जीवन में सूक्ष्मरूप से सब कुछ रहा हुआ है । क्योंकि भगवान ने उसमें सर्जनशक्ति रखी है । जो सर्जन करता है, वही जगत में सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है । इसीसे सर्जनशक्ति माताओं-बहनों में रही हुई है । इसलिए जो सर्जन करता है उसे तो सभी प्रकार से शुद्ध रहना चाहिए ।'

('पूज्य श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

परमकृपालु सर्जनहार परमात्मा की शक्ति स्त्रीत्व में छिपी हुई है । इसीसे श्रीमोटा यह स्त्रीशक्ति सभी प्रकार से श्रेष्ठ बने वैसी सर्वांगी शिक्षा की हिमायत करते हैं । विशिष्टतावाला स्त्रीजीवन जीने के लिए उत्साह, धीरज, सहनशक्ति, उदारता, सहिष्णुता, निर्भयता और सावधानी जैसे गुणों का खिलना आवश्यक है । स्त्रीजीवन का संपूर्ण विकास संभव हो, इसके लिए इस प्रकार के गुणों को विकसित करने हेतु हुए श्रीमोटा कहते हैं, 'जिस स्त्री में अंतर के उल्लास, उत्साह, धीरज, सहिष्णुता, उदारता, प्रेरकतत्त्व और रसज्ञता की शक्ति खिली है, ऐसी स्त्री की विशेष प्रबलता की तो बात ही क्या ?' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

स्त्रीजीवन को ध्यान में रखकर स्त्रिओं में आवश्यक ऐसे विशिष्ट प्रकार के गुणों का सर्जन हो, इसके लिए श्रीमोटा ने 'महाजन शक्तिदल' नाम के ट्रस्ट की रचना करवायी और इस प्रकार की प्रत्यक्ष शिक्षा देने का कार्य शुरू करवाया । 'आज भी इस ट्रस्ट के ब्याज में से गुजरात व्यायाम प्रचारक मंडल द्धारा हिंमत, साहस, निर्भयता और विशिष्ट सेवा कार्य करनेवाली बहनों को हर साल इनाम दिया जाता है ।'

('श्रीमोटा के साथ-साथ', पृ.)

स्त्रीशक्ति हिंमतवाली, निर्भय बने इसके लिए श्रीमोटा स्वयं प्रयत्न करते थे । उसके प्रमाण रूप एक प्रसंग यहाँ

उल्लेख करना जरूरी है । 'अहमदाबाद के श्री चीमनलाल शाह (महाजन बुक डीपोवाले) की दो बेटियाँ एक बार नडियाद आश्रम में गई । श्रीमोटा ने एक को बरगद के वृक्ष पर के तखत पर और दूसरी को पीपल के वृक्ष पर सारी रात सोये रहने को कहा । बहनों को निर्भय बनाने की यह उनकी बुनियादी शिक्षा थी ।'

('श्रीमोटा के साथ साथ', पृ.)

श्रीमोटा आग्रहपूर्वक मानते कि स्त्रिओं को हिंमत और शौर्य की भावना विकसित करनी चाहिए । झाँसी की रानी कैसी भव्य थी ? ऐसी अनेक 'झाँसी की रानी' समाज प्राप्त करे इसके लिए स्त्रिओं में निर्भयता का गुण विकसित हो इस बात पर श्रीमोटा बल देते हैं । श्रीमोटा ने स्त्रीशिक्षण संबंधी कोई प्रत्यक्ष ढाँचा नहीं दिया है । परन्तु साधकों के सामने दिये आशीर्वचन या साधकों को लिखे हुए पत्रों में 'स्त्रीशिक्षा' विषयक शिक्षण सहज रूप से व्यक्त होता देखने को मिलता है ।

स्त्री के जीवन और पुरुष के जीवन की भिन्नता का स्वीकार करके, स्त्री की विशिष्ट समस्याओं तथा जिम्मेदारियों को ध्यान में रखकर, 'स्त्रीजीवन' के अनुरूप स्त्रीनिर्माण के विविध विषयों को अपने मौलिक चिंतन में बुन लिया है । स्त्री को परमपद 'मातृपद' किस तरह से शोभायमान करें ? इसके लिए कौन कौन सी देखभाल करें ? आदर्श पत्नी के

रूप में कैसा व्यवहार करें ? ससुराल में किस तरह से देखभाल करते हुए रहें ? सगर्भावस्था में क्या क्या ध्यान में रखें ? संतानों का वैज्ञानिक पालन-पोषण किस तरह से करें ? आदि के संदर्भ में श्रीमोटा के वेधक विचार, आदर्श 'स्त्रीशिक्षा' के समान हैं ।

(१) ससुराल और स्त्री

ससुराल में किस तरह से सुसंवादिता प्राप्त करना उस संबंध में पूज्य मोटा के विचार इस अनुसार हैं -

'जो स्त्री भक्तिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, ज्ञानपूर्वक अपने पति के अधीन रहती है, वह संसार को पार कर लेती है और अपने पति को भी तार सकती है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ. ९४)

'मायके का अभिमान हो, उसे अपने नये जीवन को सद्‌भाववाला बनाकर के मायके को शोभायमान करना चाहिए ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'सासजी आयी हों तो उनके आशीर्वाद माँगना । उनका कामकाज प्रेमभाव से किया करना, कोई हमारे बारे में क्या सोचता है, मानता है, इसका विचार मन को न करने दें ऐसा होने पर जागृत हो जाना है ।'('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'ससुराल की बात मायके में किसी को न कहें और मायके की बात ससुराल में किसी को न कहें' ।

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

उपरोक्त विविध अवतरणों में श्रीमोटा के स्त्रीजीवन का व्यवहारिक शिक्षण के दर्शन होते हैं । विवाह यह स्त्री के जीवन में आता महत्त्वपूर्ण और खूब ही नाजुक मोड़ है । माता-पिता का घर त्याग करके, पतिगृह में स्थिर होना होता है । इस समय स्त्री शायद पढ़ी होगी, उच्च शिक्षा प्राप्त की होगी, पर संसारव्यवहार के वास्तविक शिक्षण का उसके पास अभाव होगा तो कदम कदम पर डरावना रूप धारण करेगा । श्रीमोटा स्त्रीशिक्षा का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं । उनके विचारों के अनुसार पत्नी को पति की अधीनता, ज्ञानपूर्वक और भक्तिपूर्वक स्वीकार करनी है, 'गुलामी' के स्वरूप में अधीन नहीं होना है । आपश्री के मतानुसार, समझपूर्वक पति-पथ का अनुसरण करनेवाली स्त्री कि जिसके पास जीवनलक्षी शिक्षण है, वह स्वयं तर जाती है और अपने पति को भी तार सकती है । ससुराल में भी उत्तम तरह से जीकर मायके का अभिमान अधिक उज्ज्वल करने का सौभाग्य स्त्री के पास है । स्त्री दो कुल को तार सके ऐसी शक्ति रखती है । जेसल जाडेजा को अधीन न होनेवाली 'तोरल' किस शाला में पढ़ने गई थी ? 'गंगासती' ने किस साहित्यकार के पास से अक्षरज्ञान लिया था ? 'मीरा' किस युनिवर्सिटी में पढ़ी थी ? इन सभी स्त्रिओं ने 'जीवनशाला' में ही शिक्षण प्राप्त करके कुल के कुल तार दिये हैं । श्रीमोटा स्त्री में छिपी हुई इस अद्‌भुत शक्ति को विकसित करने की बात करते हैं ।

ससुराल में मधुर भाषा से सभी के दिल जीत लेना, सास के साथ प्रेमभाव से व्यवहार करना, सभी का सारा काम करना, ससुराल की बात पीहर में नहीं करनी और पीहर की बात ससुराल में नहीं करनी । ऐसे छोटे-छोटे व्यवहारु सूचन करके, श्रीमोटा स्त्रीशिक्षण के पाठ सहजता से पढ़ाते हैं ।

(२) स्त्री और जातीयशिक्षण

भगवान ने दी अद्‌भुत सर्जनशक्ति स्त्री के पास है, परन्तु कमनसीबी यह है कि डबल ग्रेज्युएट हुई स्त्रियाँ भी जातीयशिक्षण में अज्ञानता रखती है । जातीयशिक्षण के अभाव के कारण अनेक स्त्रिओं का जीवन अंधकारमय हो गया है । वे डॉक्टरों और दवाओं के चक्कर में फँसती हैं और निराशा के साथ जीवन व्यतीत करती हैं । श्रीमोटा स्वयं डॉक्टर नहीं हैं, तब भी उनका जातीयशिक्षण के बारे में मार्गदर्शन प्रत्येक स्त्रीमात्र को सहायक हो ऐसा है । श्रीमोटा ने सूचित किये सूचन इतने अधिक वैज्ञानिक हैं कि उसे ध्यान में लेने से स्त्री अपने में रही अलौकिक सर्जनशक्ति को तेजस्वी बना सके वैसा है ।

मासिक धर्म की अनियमितता विषयक

मासिक धर्म के बारे में श्रीमोटा ने ध्यान में रखने की सूचना दी है । उसकी अनियमितता के कारण और उसके उपाय भी समझाये हैं ।

अनियमित मासिक आने के कारण :

— 'क्षय, टाइफोईड, न्यूमोनिया, जीर्णज्वर जैसी लंबी बीमारी की असर ।'

'अधिकतर ठंडे पदार्थों का उपयोग'

'अधिकतर मीठी चीजों की सीधी असर रजस्त्राव पर होती है ।'

'मासिक के दिनों में अधिक झुककर काम करते हों ।'

'मेद के दबाव से गर्भाशय और उसे मददरूप अवयवों का विकास रूँधता है ।'

'मासिक की शुरूआत के समय अनजाने में यदि मासिक के दिनों में जनन अवयवों को ठंडी लगी हो, नदी या तालाब में नहाने का हुआ हो, तो परिणामतः गर्भाशय पर सूजन आ जाय, तब भी मासिक अनियमित और पीड़ा के साथ आता है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

मासिक अनियमितता के विविध कारणों के सामने क्या क्या करना उसके उपाय भी श्रीमोटा ने बतलाये हैं, जो निम्न अनुसार हैं—

'भोजन में से चावल और चटनी बंद करें ।'

'साग सब्जी अधिक लें ।'

'सुबह-शाम धूप हो, वहाँ खुली हवा में घूमना ।'

'शरीर के रक्त को हलनचलन मिले वैसी कसरत करें ।'

(ऐसे दर्दी नियमित घूमना रखें तो बहुत ही लाभ होता है ।)

'बायबिडंग-मुलेठी ये दो चीजें कूटकर पानी के साथ उबालकर मटके में ठंडा करने के बाद (पानी) उपयोग में लेना ।'

'मेद को तोड़ने के लिए और रक्त में गति लाने के लिए एकसमान गर्मीवाले पानी में कमर तक डूबाकर बैठने से लाभ होगा ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

शारीरिक संबंध के विषय में

श्रीमोटा ने प्रजननक्रिया संबंधी भी उच्च विचार प्रस्तुत किये हैं । कामवृत्ति का ऊर्ध्वगामी उपयोग किस तरह से हो तथा संभोगक्रिया कब अधिक फलदायी हो, इस संबंध में आपश्री के विचार कामसूत्र रचनेवाले ऋषिमुनिओं की स्मृति ताजी करे ऐसा है ।

'पत्नी को मासिक आने के बाद का पाँचवा दिन, उसके बाद के चार दिन जाने पर नवाँ दिवस, उसके बाद चार दिन जाने पर तेरहवाँ दिन इतने तीन दिन के अलावा दिनों में संभोग न करें ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना')

'यह कर्म करते समय भगवान का स्मरण-साधना जीवित रहा करे, इतना करना अति महत्त्व का है, क्योंकि इस तरह से यह कर्म करने से जो प्रजा उत्पन्न होती है, यह प्रभुकृपा से उत्तम भावनावाली हो सकती है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'किसी भी दिन दोपहर में संभोग कर सकते ही नहीं । क्योंकि ऐसा करने से यदि गर्भधारण हो गया तो वह प्रजा नेष्ट (अनिष्ट) होती है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'स्त्री मासिकधर्म में आने के बाद वह स्नान करे, उसके बाद पाँच दिन में यदि उसके पति के संपर्क में आये और उससे गर्भ रहे तो अधिकतर बेटी अवतरित होगी या छठे, सातवें या आठवें दिन में संबंध में आने पर गर्भ रहे तो बेटा अवतरित होगा यह निश्चितरूप में नहीं कह सकते हैं । आठ दिन ब्रह्मचर्य पालन करने के बाद (उन दिनों में अपनी पत्नी के शरीर को स्पर्श भी नहीं करना चाहिए) के दिनों में समागम से गर्भ रहे तो अधिकतर पुत्र जन्म लेने की संभावना रहती है । ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

पति-पत्नी के शारीरिक समागम के विषय में श्रीमोटा के उपरोक्त विचार जातीयशिक्षण का दर्शन करवाते हैं । वर्तमान समय में जातीय प्रश्न बहुत ही जटिल बने हैं, तब श्रीमोटा के ये विचार बहुत ही मार्गदर्शक हों वैसे हैं ।

आदर्श पत्नी के रूप में या आदर्श बहु के रूप में किस तरह से सोचना ? किस तरह से व्यवहार करना ? वाणीव्यवहार के विषय में कैसी सँभाल रखें ? पति की अधीनता किस तरह से स्वीकार करनी ? आदि बातों का सहज मार्गदर्शन आपश्री के चिंतन में देखने को मिलता है ।

अर्थप्रधान वर्तमानयुग में घर का आर्थिक बोझ उठाने के लिए स्त्रिओं को भी छोटी बड़ी नौकरी करनी पड़ती है । घड़ी के कांटे के इशारे उन्हें भी धमालवाला व्यस्त जीवन जीना पड़ता है - इससे स्त्रीस्वास्थ्य आज जितना जोखिम में है, उतना शायद कभी भी नहीं हो । गर्भपात, गर्भपरीक्षण, जातीयरोग, गर्भस्त्राव जैसे-जातीयप्रश्न अधिक विकट बन गये हैं । जातीयप्रश्नों ने आज स्त्रीजीवन को घेर लिया है । ऐसे विकट समय में श्रीमोटा का जातीयशिक्षण, चिंतन सरलता से मददरूप हो सके वैसा है । मासिक की अनियमितता के कारण क्या हो सकते हैं ? मासिकधर्म के समय क्या खायें ? क्या न खायें ? किस तरह से सो जाये ? स्नान करते समय क्या क्या ध्यान में रखें ? आदि छोटी-छोटी बातों के लिए उनके सूचन शिक्षणस्वरूप में स्त्रीनिर्माण में खास रूप से योगदान देते हैं ।

प्रजननक्रिया या संभोगयोग संबंधी श्रीमोटा के मौलिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणवाले विचार गर्भपरीक्षण का प्रमाण कम करने में महत्त्व का योगदान देते हैं । **आज समाज में बेटा या बेटी की इच्छित प्राप्ति करने गर्भपरीक्षण का समाजिक दूषण ने गंभीर स्वरूप धारण किया है । इससे गर्भपात करवाने के लिए हाट खुल गये हैं । शिक्षित समाज की सड़ी विकृतिओं का यह प्रतिबिंब है । ऐसे समय में संभोगयोग के दिन संबंधी श्रीमोटा का मार्गदर्शन**

मात्र स्त्रीजाति के लिए नहीं परन्तु संपूर्ण समाज के लिए आशीर्वादरूप बन सके वैसा है ।

सगर्भावस्था का शिक्षण

सगर्भावस्था के दौरान स्त्रिओं को क्या खाना ? क्या नहीं खाना ? कपड़े कैसे पहनने ? शरीर की स्वच्छता कैसे रखनी ? सामान्य देखभाल क्या क्या ध्यान में रखें ? आदि अनेक बातों में श्रीमोटा का व्यवहारु और अनुसरणीय मार्गदर्शन अद्‌भुत स्त्रीशिक्षण है । उनके ही शब्दों में प्रस्तुत करें तो –

(१) खाने-पीने की बात

'सहिजन की फली का साग कभी-कभार खायें !'

'साग का प्रमाण जितना ले सकें उतना रखें ।'

'कच्ची हरी हल्दी खाने के साथ रोज लेते रहना ।'

'दूध दिन में तीन बार लेना ।'

'सुबह दूध में घी, महीन घिसी हुई बदाम और शहद डालना ।'

'निपट तली हुई बानगी बिलकुल न खायें ।'

'कभी कभार मेथी के थेपले या मूठियाँ भाप में पकाकर, छौंककर खायें ।'

'रोज दो-तीन बार पान खाने की आदत डालें । पान में लगाये जानेवाला चूना और नागरवेल का पान गर्भ और सगर्भा शरीर के लिए आवश्यक है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

(२) कपड़ो के बारे में

'कभी चुस्त कपड़े न पहनें ।'

'बोडीस-ब्रेसियर्स का उपयोग छोड़ दें । हमारी बहनें सगर्भावस्था में बहुत सखताई से बोडीस-ब्रेसियर्स पहनकर रखती हैं, यह उनका अज्ञान है ।'

'शरीर हलका लगे वैसे हो सके उतने कम वस्त्र पहने ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

(३) शरीर की देखभाल

'रोज ढाई मील चल सकें उतना उसे चलना ही है ।'

'छ महीने हो जाये उसके बाद बहुत झुकना नहीं । बहुत उठना बैठना नहीं ।'

'दिन में तीनचार बार गर्म पानी लेकर नमक डालकर कुल्ला करना चाहिए ।'

'तीन चार बार आँखो में ठंडा पानी धीरे-धीरे छिड़कना ।'

'कभी कोई जुलाब की दवा नहीं लेनी ।'

'नहाते समय साबुन का उपयोग न करें ।'

'गले, कान-दाँत में किसी भी प्रकार की दुर्गंध न रहे, उतना खास ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो बालक के शरीर में वह अवश्य उतरेगा ।'

'स्तन के अग्रभाग में वेसलीन लगाकर प्रसव के अंतिम महीनों में खींचकर बाहर निकाल देना चाहिए - प्रसव होने

से पहले चूची को कोमल हो, योग्य हो सके तो बालक सरलता से स्तन पान कर सकेगा । इस प्रकार का संकोच हो तो वैसी मूर्खता दूर करनी चाहिए ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

(४) अन्य सामान्य (व्यवहारिक) बातें

'मन स्थिर, ठंडा और भावनावाला, शांतिवाला रोज रहा करे ऐसी सभानता रखनी आवश्यक है ।'

'मन पर अच्छे उत्तम संस्कार पड़ें ऐसा पढ़ने का रखें ।'

'संसार की कोई भी बात की वासना इस समय में न रखें इसका ध्यान रखें ।'

'महापुरुषों के जीवनचरित्र बार-बार पढ़ना, उनके गुणों का बार-बार चिंतन करना ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

सगर्भावस्था में किस-किस तरह की सँभाल रखें इस बारे में श्रीमोटा का मार्गदर्शन खूब ही वैज्ञानिक, व्यावहारिक और अनुकरणीय है । मेडीकल ट्रीटमेन्ट लेती सगर्भा स्त्रियाँ व्यवहारु उपचारों में बिलकुल अज्ञान होती हैं । केवल दवाओं पर जीनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है । खानेपीने, पहननेओढ़ने एवं सामान्य व्यावहारिक सँभाल — श्रीमोटा ने सूचित किये तरीके — ध्यान में ले सके तो मँहगी दवाओं की बालक और माता पर होती विपरीत आड़ असरों से बच

सकते हैं । सरल और स्पष्ट भाषा में समझाये श्रीमोटा के सूचन खूब ही सूचक और अर्थपूर्ण हैं । केवल खानेपीने या पहनने ओढ़ने की सँभाल की बात पर्याप्त नहीं है । शरीर की देखभाल के साथ साथ मन की सँभाल भी जरूरी है । वे आग्रहपूर्वक बतलाते हैं कि मन की प्रसन्नता बनी रहे, इसके लिए संस्कारी पठन करना चाहिए, महान पुरुषों के जीवनप्रसंगों का वाचन करना चाहिए ।

श्रीमोटा आग्रहपूर्वक सूचन करते हैं कि 'सगर्भा स्त्री सिनेमा न देखे यह उत्तम है - फिल्म न देखें, यह बालक के जीवन के लिए बहुत आवश्यक है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.) श्रीमोटा का उपरोक्त सूचन वर्तमानयुग में युवतिओं के लिए चेतावनी के समान है । आज के फैशनभरे माहोल में युवती चुस्त कपड़े पहनना वह गौरव समझती है, वह भी सगर्भावस्था में अंतिम महीना चलता हो तब भी लोग थियेटर में या घर में वी. सी. आर. का उपयोग करके सिनेमा देखने का सभानता से चालू रखते हैं । अब तो वैज्ञानिकों ने भी कबूल किया है कि माता के गर्भ में शिक्षण का श्रीगणेश होता है । शिवाजी और अभिमन्यु के ज्वलंत उदाहरण इतिहास में देखने को मिलते हैं, वह उनका निर्माण जन्मपूर्व माता के गर्भ में हुआ था - सगर्भावस्था में हिंसा, खून, बलात्कार, चोरी, डाकूगीरी की विकृति निर्माण करती सिनेमा यदि माता देखेंगी तो उसकी विपरीत असर

जन्म लेनेवाले शिशु पर पड़ेगी ही । श्रीमोटा चेतावनी देते हुए, इस अवस्था में सिनेमा नहीं देखने को कहते हैं ।

(३) मातृपद और शिशु देखभाल

प्रजननक्रिया से लेकर सगर्भावस्था तक का श्रीमोटा का शिक्षण बोधात्मक है । इसके अलावा मातृपद उज्ज्वलित हो उठे इसके लिए और शिशु की वैज्ञानिक देखभाल के बारे में भी आपश्री के विचार आदर्श शिक्षा की कक्षा प्राप्त करते हैं । बालक का जन्म हो कि तुरन्त ही नवजात शिशु की देखभाल किस तरह से करनी चाहिए ? माता को क्या क्या ध्यान में रखना चाहिए ? आदि बातों का उनके ही शब्दों में –

'प्रसूता स्त्री को दस दिन तक तो हलनचलन नहीं करना चाहिए ।'

'प्रसूता स्त्री को हवा खाना (बीजली के पंखे की हवा भी नहीं) लाभकारी नहीं है ।'

'प्रसवकाल यह स्त्रीजीव के लिए नया जन्म है । पीपरामूल और सोंठ की राब और सोंठ तो देनी ही है । इसके बाद सुबह में हलवा देना चाहिए । जिमीकंद में अच्छे से पी सके उतना घी दे सकते हैं ।'

'प्रसवकाल के बाद योनि गाढ़ी और संकुचित करने के लिए जायफल चूर्ण और फूलाई हुई फिटकरी एकत्र करके बारीक वस्त्र में पोटली बाँधकर अंदर रखें । यह रामबाण उपाय है । ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'बालक को दो-दो घण्टे में दूध-पिलाना और बीच-बीच में ऊपर का पानी थोड़ा थोड़ा चम्मच से दिया करना ।'

'बालक माँ का दूध पीता हो, वहाँ तक बालक की माँ सोवा खाती रहे वह बालक की तंदुरस्ती के लिए अति आवश्यक है ।'

'बालक को स्तनपान कराते समय माँ को अपना मन बिलकुल शान्त रखना चाहिए ।'

'बालक को रोज नहलाये । साबुन का उपयोग न करे पर चने के आटे का उपयोग करे ।'

'बालक के पोषण के लिए माता का दूध अनिवार्य है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों द्वारा मातृत्व प्राप्त करने के बाद माता और बालक की देखभाल किस तरह से रखें इसका शिक्षण देखने को मिलता है । स्त्रीजीवन में उत्तमपद हो तो वह मातृपद है । मातृपद प्राप्त करने के बाद माता अपनी देखभाल सहजता से कर सके वैसा शिक्षण श्रीमोटा प्रस्तुत करते हैं । शारीरिक देखभाल से लेकर कैसा भोजन खायें इसका सरल मार्गदर्शन उनके विचारों में देखने को मिलता है, जो प्रत्यक्ष शिक्षा ही है ।

नवजात शिशु का पालन किस तरह से करें, इस बात में भी आपश्री के सूचन शिशु-देखभाल की वैज्ञानिक पद्धति

प्रस्तुत करते हैं । ताजे जन्मे हुए बालक को चम्मच से सीधा गुड़ या चीनी ग्लुकोज का पानी देने की प्रचलित पद्धति के सामने आपश्री ने जनमघूँटी की वैज्ञानिक पद्धति दी है, जो बालक के लिए अधिक सरल है । बालक को साबुन का उपयोग किये बिना चने के आटे से रोज नहलाना, प्रत्येक दो घण्टे में दूध पिलाना, दूध पिलाते समय मन बिलकुल शांत रखना आदि सूचनाएँ देकर के माता को शिक्षा दी है । आजकल अपने स्तन की सुन्दरता बनी रहे इसके लिए पढ़ी हुई शिक्षित स्त्रियाँ बालक को एकाध मास में ही बाहर के दूध पर चढ़ा देती हैं । श्रीमोटा विनतीपूर्वक बतलाते हैं कि माता का दूध बालक के लिए अनिवार्य है । डॉक्टर, वैद्य और वैज्ञानिक भी माता के दूध की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं ।

माता को क्षय जैसा कोई रोग हो या दूसरे किसी कारण से डॉक्टर ने स्तनपान का निषेध किया हो तो ठीक है । परन्तु बिना कारण के स्तन का सौन्द्रर्य नष्ट न हो जाय, इसके कारण ही बालक को स्तनपान से अलिप्त रखना वह जनेता, जनेता नहीं पर घातकी पशु जैसी है । भगवान ने स्त्री को स्तन दिये हैं, वह बालक को दूध पिलाने के लिए, अन्य जातीय आनंद या उपभोग के लिए नहीं हैं । कितनी स्त्रियाँ जो पैसेटके से सुखी हो, उपमाता रखती हैं–उस दूध के बालक पर क्या संस्कार पड़ेंगे ? यदि

बालक को स्तनपान न कराना हो, तो वैसी स्त्रियों को मातृपद धारण ही नहीं करना चाहिए, भले फिर स्तन के केन्सर से मरे – अमेरीका में इस प्रकार का संशोधन हुआ है, 'जो स्त्रियों स्तनपान करवाने का टालती हैं, उनको स्तन के केन्सर होने का प्रमाण अधिक ऊँचा है। 'यदि स्त्री को 'माता' बनने का अबाधित जन्मअधिकार है तो बालक को स्तनपान करने का उतना ही अबाधित जन्मअधिकार है । पाश्चात्य हवा के जोर पर, अपने आपको आधुनिक माँ खपाने पर वह अपने और अपने बालक का कैसा विनिपात वह करती है, इसका ऐसी स्त्रियों को समूचा रख्याल नहीं है ।

इसप्रकार मातृपद प्राप्त करके माता को क्या क्या देखभाल रखनी है, नवजात शिशु की वैज्ञानिक देखरेख किस तरह से करनी है एवं माता के दूध का महत्त्व, जनमघूँटी की वैज्ञानिक पद्धति, स्तनपान के समय माता की मानसिक स्थिति, प्रसव के बाद योनि की देखभाल आदि अनेक बातों में श्रीमोटा के सूचन स्त्रीशिक्षा की खास झाँकी देते हैं ।

श्रीमोटा हमेशा पढ़ाई (शिक्षण) से गढ़न (शिक्षा) पर अति भार देते । इससे स्त्रीशिक्षण के बारे में भी शालाकीय ढब का स्त्रीशिक्षण से स्त्री के जीवन के अनुरूप व्यवहारिक शिक्षण कैसा हो सके इस बारे में विशेष ध्यान दिया है । स्त्री जीवन की नाजुक समस्याओं का सहज समाधान मिले उस

ढब का उनका शैक्षणिक चिंतन स्त्रीजगत के लिए आशीर्वाद समान है ।

श्रीमोटा के उपरोक्त विचार नारीजगत के लिए प्रकाशपुंज के समान है । स्त्री संपूर्ण स्त्री बने और उसका स्त्री की हैसियत का जीवनकर्तव्य पूर्ण करे उस प्रकार की जीवनकेन्द्रि व्यवहारलक्षी शिक्षा श्रीमोटा के विचारदर्शन में मिलती है ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

७. दाम्पत्यजीवन की शिक्षा

भौतिकवादी वर्तमान युग में मानवी दिनप्रतिदिन भावशून्य बनता जाता है । मात्र स्वार्थीपन उसके जीवन का लक्ष्य बन गया है । ऐसा लगता है कि मानवी जैसे जैसे शिक्षित बनता जाता हे वैसे वैसे उसके हृदय की विशालता संकुचित होती जाती है और उसकी मानसिक संकुचितता विशाल बनती जाती है । एक तरफ शिक्षित जनसमूह बनता जाता है तो दूसरी तरफ विवाह विच्छेद के प्रसंगों, अनाथाश्रमों, नारीसुरक्षा केन्द्रों और वृद्धाश्रमों भी बढ़ते जाते हैं । **लगता है कि मकान बढ़े हैं, घर टूटे हैं ।** कुटुंब बढ़े हैं, किन्तु परिवार कम हुए हैं । दाम्पत्यजीवन सहज में टूटने लगा है । पति-पत्नी के संबंध केलेन्डर के उन तारीख के पन्ने जैसे फट चूके हैं । टूटे हुए या फटे हुए दाम्पत्यजीवन की सीढ़ियाँ प्रश्नार्थचिह्न बनने लगे हैं । बालकों के मासुम चहेरे विस्मय, अपेक्षा के साथ समाज के सामने देख रहे हैं । यों टूटते जाते कुटुम्बों के कारण से संपूर्ण समाज मानो रेतघर बन गया हो वैसा लगता है ।

कमनसीबी तो यह है कि भग्न होते दाम्पत्यजीवन का रोग अनपढ़ वर्ग से शिक्षित समाज में अधिक दिखता है । पैर में झाँझर बाँधकर तेज धूप में काली मजूरी करते

अनपढ़ मजूर दंपती के पास जो प्रसन्नता है, कदाचित् शिक्षित दंपतिओं के पास नहीं है । इन सभी समस्याओं के मूल में विचार करने में आये तो ऐसा लगता है कि दाम्पत्यजीवन की शिक्षा का अभाव कारणभूत है । दाम्पत्यजीवन की शिक्षा के अभाव से पति-पत्नी के जीवन में 'अहम् ए वयम्' का स्थान लिया है । और भाव के स्थान पर मांग अधिक मजबूत बनी है । अपेक्षाओं की सखताई के सामने कर्तव्य निर्बल बना है । पति-पत्नी के व्यक्तिगत अधिकारों ने डरावना ऐसा तिरस्कार का रूप धारण किया है । यों अहम्, अधिकार माँग, स्वार्थ और अपेक्षाओं की आँधी में फँसा हुआ दम्पति उनके ही जीवनवर्तुल में से फेंका जाता है ।

दाम्पत्यजीवन कैसा होना चाहिए ? पति-पत्नी एकदूसरे को किस तरह पूरक बन सके ? दम्पति के बीच का 'अहम्' समझ का सेतु बने उसके लिए क्या करना ? आदि विवाह-जीवन के सूक्ष्म प्रश्नों की सरल समझ श्रीमोटा ने दी है । स्वजनों के साथ हुए वार्तालापों में, साधकों को दिए हुए प्रत्युत्तरों में, पधरावनी समय पर कुटुम्ब को दिये हुए आशीर्वचनों में श्रीमोटा ने दाम्पत्यजीवन की शिक्षा के बारे में बहुत बहुत कहा है ।

विवाह अर्थात् क्या ? पति-पत्नी के बीच प्रेम, मनोभाव है, परन्तु समझ के अभाव के कारण खड़े होते मानसिक मुठभेड़ किस तरह से निर्मूल करें ? दंपति के बीच 'तीसरे'

व्यक्ति के प्रवेश के समय नाजुक क्षणों में किस तरह से व्यवहार करें ? वृत्तिओं के आवेगों को अंकुशित करने के लिए क्या करें ? आदि अनेक प्रश्नों में श्रीमोटा ने दिये मार्गदर्शन दाम्पत्यजीवन की प्रत्यक्ष शिक्षा ही है। दाम्पत्यजीवन के शिक्षा संबंधी श्रीमोटा के विचार निम्न अनुसार हैं-

विवाह अर्थात् क्या ?

'विवाह यह सृष्टि का कानून है ।'

('श्रीमोटा के साथ वार्तालाप', पृ.)

'विवाहित जीवन यह कोई केवल मात्र कामतृप्ति के निरे संतोष के लिए नहीं है । जीवन में इस वृत्ति का संयम बनाये रखने के लिए और उसमें से जीवन की समझ एवं भावना ज्ञानभक्तिपूर्वक विकसित करने का विवाहितजीवन का हेतु है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'विवाह यह कोई उतार देने जैसी वस्तु नहीं है । प्राचीन ऋषिमुनिओं विवाहित जीवन बिताते थे । श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण जैसे अवतारों ने भी विवाह करके प्रजोत्पत्ति की है ।

('जीवनपराग', पृ.)

'विवाहभावना मात्र केवल भोगविलास के लिए नहीं है । यह तो तपस्या के लिए है । समाज, देश, पितृ, ऋषिओं का ऋण अदा करने का उत्तम साधन है । हृदय की शुद्ध सात्त्विक भावना विकसित करके आत्मा के स्वरूप में एकदूसरे को पहचानकर जो जगत के चरण में

एकाध बुद्ध भगवान, एकाध इशु भगवान, एकाध शंकराचार्य या एकाध ज्ञानदेव की भेंट रखेगा-उसने जगत की बड़ी सेवा की गिनी जायेगी, विवाह ऐसी प्रजोत्पत्ति के लिए है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'विवाह शब्द का हेतु यह मात्र स्थूल देह के विवाह तक सीमित नहीं है । पर मानव को अपने अंदर की परस्पर विरोधी प्रवृत्तिओं का समन्वय करके उनका विवाह अपने में करना रहता है । रागद्वेष, सुखदुःख, प्रकाशअंधकार आदि जोड़ों के विवाह करवाने हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'प्रकृति के पीछे सत्ताधीश या प्रकृति के सभी कर्म के पीछे मुहर लगानेवाले परमपुरुष को जानने, समझने और अनुभव करने एवं उससे पर भी जो कुछ यथार्थरूप से सत्य रहा है, उसका साक्षात्कार करने के लिए युग्म की भावना है ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा 'विवाह' अर्थात् क्या ? वहाँ से शुरू करके विवाह के पीछे के सूक्ष्म आध्यात्मिक हेतु कौन-सा है, उस बात पर प्रकाश डालते हैं । विवाह यह सृष्टि का कानून है वैसा बतलाकर वे कुदरती तत्त्व गिनते हैं । विवाहित जीवन का सहज स्वीकार करके वे बतलाते हैं कि विवाह समाजविकास के लिए जरूरी है । समाज, देश, पितृओं और ऋषिमुनिओं का ऋण अदा करने का उत्तम साधन अर्थात् विवाह । जीवन के शाश्वत सुख अनुभव करने

के लिए **विवाह का गूढ़ अर्थ समझाते हुए वे विवाह को पति और पत्नी ऐसे दो *जीवों* की मुक्ति के लिए का बंधन मानते हैं । विवाहजीवन द्वारा हृदय के भावों को उच्चतम कक्षा में पुष्पित करना है । विवाह द्वारा एकदूसरे के स्वीकार से आगे बढ़कर एकदूसरे के पूरक बनकर ऐक्यरूपी भगवान की प्राप्ति करनी है ।**

कामवासना की तृप्ति के लिए अथवा भोगविलास की वृत्ति के लिए होते विवाह में श्रीमोटा मात्र पशुता के ही गुण देखते हैं । 'हमारी प्रजा अच्छे संस्कारवाली, प्रणय चेतनावाली होनी चाहिए । कैसे भी बालक जनन करना यह तो पाशवी वृत्ति का काम है ।' ('जीवनपराग', पृ.) उनके चिंतन अनुसार विवाह की भावना एक तपस्या है । हृदय की एकता रखकर, जीवन की दृष्टि, वृत्ति और भाव ऊर्ध्वगामी बनाने का पवित्र साधन अर्थात् विवाहजीवन ।

श्रीमोटा विवाह को समाज के लिए की संस्कारी व्यवस्था मानते हैं । विवाहजीवन में दोनों पात्रों को आत्मा के स्वरूप में एकदूसरे को पहचानना है, और दैवी जीवन जीकर विवेकानंद, अरविंद या गाँधीजी जैसे संतानों की भेंट समाज के चरण में रखकर समाजऋण से मुक्त होना है । विवाह की विशालता और उसके पीछे की भावनात्मक सूक्ष्मता की ओर मार्गदर्शन देते हुए श्रीमोटा बतलाते हैं कि 'पुरुष और प्रकृति का खेल समाया हुआ है । हमारे अकेले में भी पुरुष और

प्रकृति है । ऐसे तत्त्वज्ञान की समझ हम में आये इस कारण से हमारे दृष्टा-पुरुषों ने विवाह प्रथा शुरु की होगी ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

विवाह यानी कि मात्र स्थूल शरीर का मिलन, यह सीमित ख्याल है । पति-पत्नी के बीच की सच्ची एकता के साथ पति और पत्नी को अपनी प्रकृति के साथ भी विवाहग्रंथि से जुड़ना है । अपनी विरोधी वृत्तिओं के साथ भी विवाह करना है । मोह-तिरस्कार, भावना-विभावना, सुख-दुःख, राग-द्वेष, पसंद-नापसंद, रुचि-अभिरुचि आदि जोड़ो के साथ विवाह करके स्वयं को उज्ज्वल करना है ।

विवाहसंबंधी दैहिक, सामाजिक और आध्यात्मिक ख्याल के बारे में श्रीमोटा के विचार विवाह की संकल्पना सूक्ष्म तरह से समझाते हैं । कामतृप्ति अथवा वासना के संदर्भ में श्रीमोटा के विचार प्रत्येक व्यक्ति के लिए दिशासूचक बनें ऐसे हैं । उनके ही कितने विधानः

'जीवन में सुषुप्त पड़ी हुई वासनाएँ संपूर्णरूप से दिव्य रूपान्तर हो जाँय, दिव्य चेतनशक्ति में परिणत हो, उस हेतु के लिए विवाहसंबंध हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'पति-पत्नी का संबंध वासनाओं का ऊर्ध्वकिरण करने के लिए है । यानी कि उसे शुद्ध और उच्च प्रकार की करने के लिए है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'वासना यह एक से अनेक होने की वृत्ति का सहज लक्षणरूप है । वह भी सहज है । जीवन में वह सहजता से होता है । वह व्यक्त होने पर प्रभु की ही कृति है ।

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'कामवृत्ति मानवी के हृदय का एकराग प्रकट करने, कराने और एकभाव से जुड़ने के लिए है । इन हेतुओं का यह एक साधन है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'कुदरत की ओर से मानवी को मिली कामवृति उसके अपने उपभोग के लिए है, ऐसा मानने में वह भूल करता है । वह शक्ति तो मिली है – परस्पर हृदय से एक होने, एकदूसरे के हृदय के प्रति आकर्षित होने, एकदूसरे में एकभाव से, एकराग से, एकरूप से, व्याप्त होने, एकदूसरे के हृदय में एकनिष्ठा से रहने के लिए, प्रेरणात्मक बल के रूप में मिली है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'यह जो कामवृत्ति है, यह कुदरत की ओर से मिली शक्ति है । यह शक्ति मानवजीवन के उद्धार के लिए है । मानवजीवन को सचेतन बनाने के लिए, नवपल्लवित और प्रेरणान्वित करने, उसे *'एकोऽहम् बहुस्याम्'* के भाव की लीला में व्यक्त कराने श्रीभगवान के शक्तिप्रसाद के रूप में मिली यह वृत्ति है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

जीवमात्र में भय, आहार, निद्रा और मैथुन–यह चार तत्त्व समान हैं । परन्तु मानवी प्राणीमात्र से आगे है । उसके

पास बुद्धि, समझ, वाणी जैसे विशिष्ट लक्षण हैं । इन लक्षणों का सहारा लेकर मानवी उन चार तत्त्वों को (भय, आहार, निद्रा, मैथुन) संयम या नियम द्धारा अंकुशित करके, जीवन को उच्चतम स्थान पर ले जाने का प्रयत्न करता है । यदि इन चारों तत्त्वों का अनियंत्रित विकास हो तो मानवी पशु के जैसा हो जाता है । श्रीमोटा ने काम और कामवृत्ति संबंधी सुन्दर सरल समझ दी है । आपश्री कामवृत्ति को कुदरत की अद्‌भुत शक्ति के रूप में मानते हैं । एक में से अनेक होने के लिए प्राणीमात्र में यह शक्ति कुदरत ने सर्जित की है । वासना का सहज स्वीकार करते हुए आपश्री बतलाते हैं कि पतिपत्नी के दाम्पत्यसंबंध के द्वारा इस वासना का ऊर्ध्वीकरण कर सकते हैं । पति-पत्नी के बीच एकरागता, एकभावना और एकरसता निर्माण करने का दाम्पत्यजीवन का परम हेतु सिद्ध करने के साधन रूप कामवृत्ति को समझना है । कामतृप्ति के लिए विवाहजीवन नहीं है । **वासना और विवाह का संबंध स्पष्ट करते हुए वे भारपूर्वक बतलाते हैं कि वृत्तिओं पर संयम लाने के लिए विवाहजीवन है । वृत्तिओं का संयमित उपयोग के लिए विवाहजीवन है, उपभोग के लिए नहीं ।**

श्रीमोटा ने चेतावनी स्वरूप समझाया है कि वासना की मात्र तृप्ति के लिए कैसे भी बालक जनना यह बिलकुल पशुता है । 'यदि बालक को उत्पन्न करना हो तो वह उत्तम से उत्तम

हो ऐसा मानस विचार, भावयुक्त ज्ञानपूर्वक का व्यवहार कर लेने के बाद काम की वृत्ति का उपयोग करना यथार्थ गिन सकते हैं । ' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.) स्वयं में उदित हुई वासनाओं का परिणाम और जीवन के उच्च आदर्श-इन दोनों का समन्वय जरूरी है । कामवृत्ति के पीछे का ही ज्ञानपूर्वक का हेतु मानवी समझ जाय तो कुदरत की यह सबसे बड़ी और सर्वोत्तम बक्षिस उसे मिली हुई है ।

श्रीमोटा की उपरोक्त समझ द्वारा कोई भी व्यक्ति अंतरचक्षु का प्रकाश प्राप्त कर सके ऐसा है । संक्षेप में जीवन में सुषुप्त पड़ी हुई कुदरती वासनाएँ संपूर्णरूप से दिव्यता में रूपान्तर होकर पवित्र चेतनाशक्ति में उसका रूपान्तर हो, उसकी सिद्धि के लिए 'विवाह' संबंध है ।

संसारक्षेत्र में बालजीवन, विद्यार्थीजीवन, युवाजीवन, दाम्पत्यजीवन और गृहस्थजीवन-इसप्रकार जीवन की विविध श्रेणियों द्वारा मानवजीवन जीया जाता है । श्रीमोटा ने 'जीवन' को लक्ष में रखकर अति चिंतन किया है । दाम्पत्यजीवन संबंधी में उनका चिंतन अद्‌भुत है । पति-पत्नी को किस तरह का जीवन जीना चाहिए ? एकदूसरे के लिए कैसा भाव रखना ? अकारण खड़ी होती मानसिक यंत्रणा किस तरह से निर्मूल करनी ? प्रकृतिजन्य दोषों के कारण होते संघर्ष किस तरह से टालेंगे ? आदि अनेक प्रकार के जीवन के प्रश्नों के उत्तर श्रीमोटा के दाम्पत्यजीवन की शिक्षा संबंधी विचारों से प्राप्त

हो ऐसे हैं । निम्न विविध अवतरण श्रीमोटा के दाम्पत्यजीवन का शिक्षालक्षी चिंतन प्रस्तुत करते हैं –

'पति–पत्नी के साथ मिलकर हृदय के सहकार से जीवन के क्षेत्र में झुकाना होता है ।' ('धन का योग', पृ.)

'हमें अपने प्रेमी में घुल जाना है, मिल जाना है, यानी हमें स्वतंत्र व्यक्तित्व भी मिटा देना है ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'रथ के दो पहिये एक तरह के और समान तरीके के हों तभी गाड़ी ठीक से चलेगी । वैसे दोनों परस्पर एकदूसरे को खूब प्रेमभाव से चाहो और वह चाहना चेतन के लिए चाहना है ।' ('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'जीवन में जिस हेतु से दोनों जीवात्मा एकत्र हुई हैं, उस हेतु की आड़ में जाने–आनजाने हम से कभी निमित्त भी न हुआ जाय यह ध्यान में रखना है । जीवन क्लेश, कलह या ऐसे किसी संकुचित प्रवाह के लिए नहीं है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'जिसे हमने अपना दिल सौंपा, जिसे हम जिगर गिनें, जिसे स्वर्ग गिनें ऐसे प्रेमी की खातिर क्या नहीं करेंगे ? उसे जिसमें सुख मिले उसमें हमें आनंद होना चाहिए । उसके रहनसहन के अनुसार हमारा जीवन होना चाहिए ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'हमें अपना धर्म निभाना रहा । धर्म के पालन वर्तन में अदलाबदली की अपेक्षा न हो । वह ऐसा करें तो मुझे वैसा करना है ऐसी बातें तो व्यापार में हो । पति-पत्नी का संबंध यह व्यापार नहीं है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'ऊबकर, त्रासित होकर, हैरान होकर या परस्पर मन में ऐसा या वैसा होकर, इकट्ठे जीना इसमें कोई सार नहीं निकलेगा । यह भी निश्चित बात है । इसलिए परस्पर समझ कर चलेंगे और परस्पर प्रेम की तरंग उछालकर एकदूसरे को हृदय से चाहा करके परस्पर को वह उसके दृष्टिबिन्दु से उदार मन से समझने का करेंगे तो कोई उलझन नहीं आयेंगी ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा ने दोनों (पति-पत्नी) को संबोधित करके मार्गदर्शन दिया है। श्रीमोटा ने दाम्पत्यजीवन, दाम्पत्यभावना या पति-पत्नी के जीवनव्यवहार आदि बातों पर विशद् प्रवचन नहीं किये हैं । परन्तु श्रीमोटा समक्ष आनेवाले अनेक साधकों के जीवन की समस्याओं के निराकरण के लिए दिये मार्गदर्शक विचार दाम्पत्यजीवन की शिक्षा के स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया है । श्रीमोटा के सामने अनेक साधक एवं स्वजन आते और निखालिसता से अपने दाम्पत्यजीवन संबंधी प्रश्न पूछकर मार्गदर्शन लेते थे । श्रीमोटा की विशिष्टता यह थी कि मार्गदर्शन में वे उच्च आदर्श, गूढ़ सूचन या संकीर्ण सलाह नहीं देते थे, पर अनपढ़ और शिक्षित

दोनों प्रकार के व्यक्ति सहजता से समझ सकें ऐसा व्यवहारु हल खोज देते थे । उनके पुस्तक, उनके प्रकाशित हुए पत्र एवं वार्तालाप से अभ्यास या दाम्पत्यजीवन की शिक्षा संबंधी अनेक विचार प्राप्त करके यहाँ प्रस्तुत किये हैं ।

श्रीमोटा पति-पत्नी दोनों को रथ के पहिये की तरह एकसमान बनने को कहते हैं । और इसके लिए सर्वस्व समर्पण करके एकदूसरे को शुद्ध हृदय से प्रेमभाव से चाहने का कहते हैं । **जैसे आँख दो होने पर भी दृष्टि एक होती है, पैर दो होने पर भी गति एक होती है वैसे शरीर अलग-अलग होने पर भी जीवन एक होता है उस तरह दाम्पत्यजीवन जीने का वे आग्रह करते हैं ।** दाम्पत्यजीवन में अंतरपट का अंत लाकर के परस्पर के जीवन में घुलकर रसपूर्वक एकरूप होकर स्वभावगत बाधाओं को निष्क्रिय करना है । **दाम्पत्यजीवन एकदूसरे की भूल खोजने के लिए नहीं है, एकदूसरे के पूरक बनने के लिए है ।** पति या पत्नी अपने जीवन में 'मैं नहीं, तू ही' का आदर्श रखेंगे तो दाम्पत्यजीवन सचमुच प्रकाशित हो जायेगा । श्रीमोटा सुमेल के लिए अहम्, आग्रह, स्वार्थ और स्वभाव को कम करने को कहते हैं । 'ऐसा ही होना और वैसा ही होना चाहिए यह वृत्ति मंद न हो, वहाँ तक दोनों का परस्पर सुमेल नहीं हो सकेगा ।' ('विवाह हो मंगलम्', पृ.) आपश्री के तत्त्वज्ञान अनुसार दाम्पत्यजीवन में एकात्मता और सुसंवादिता

खड़ी हो, उसके लिए पतिपत्नी दोनों को एकदूसरे में इसतरह से हिलमिल जाना चाहिए कि पति के अधिकार में पत्नी के कर्तव्य और पत्नी के अधिकार में पति के कर्तव्य सहजता से बुन जाँये । यानी कि एकदूसरे को समझने की शक्ति, त्याग करने की भावना, प्रेम, सम्मान देने की भावना, निष्ठा, विश्वास, सहकारी भाव आदि गुण विकसित करके शुद्ध हृदय से प्रेमभाव द्वारा एकदूसरे के अनुकूल होना है ।

दंपति सहजीवन जीते हुए क्या क्या ध्यान में रखे, इसकी सरल समझ श्रीमोटा ने दी है । दोनों एकदूसरे को प्रथम तो हृदय से चाहना है । मन की विशालता बढ़ाकर उदार मन से एकदूसरे को समझना है । अदलाबदली या ऐसा या वैसा या वैसा करने की व्यापारी प्रवृत्तिओं या वृत्तिओं को त्यागकर, दोनों अपने अपने स्थान पर रहकर स्वधर्म का समझदारीपूर्वक पालन करना होता है । ऐसा होगा तो दाम्पत्यजीवन में कहीं कोई उलझन देखने को नहीं मिलेगी ।

'दाम्पत्यजीवन' नंदनवन बने इसके लिए श्रीमोटा ने पति और पत्नी दोनों को संबोधन कर बहुत सारी सूचनाएँ दी हैं । सरल भाषा में किये उनके उपदेशात्मक शिक्षालक्षी विचार निम्न अनुसार हैं –

(१) पति संबंधी विचार

'पुरुष ने स्वयं को उत्तम मानकर जगतभर में वासना को अधिक पोषा है और स्त्रिओं को भी वैसा बना दिया है ।

इसलिए जहाँ तक पूज्यभाव, आदर और मान का भाव स्त्रियों के प्रति नहीं बढ़ेगा, वहाँ तक हमारा लाभ नहीं होगा ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'हमारी जीवनसंगिनी को हम सोबत से यदि ऊँचा न ला सकें तो फिर हमारा उनके साथ जुड़ने का प्रभु ने बनाया वह हेतु ही मर जायेगा ।' ('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'हिन्दू समाज का पति अपनी पत्नी को मात्र एक श्रम करनेवाली मुफ्त के मजदूर जैसी समझता है ।

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'बहनें जीवन में जितना समर्पण कर सकती हैं और जितना त्याग, बलिदान दे सकती हैं ऐसा पुरुष नहीं कर सकते हैं । बहनों के कारण ही समाज जीता है और मरता है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'सभी बातों में पत्नी को पति से पूछकर ही चलना पड़ता है, पूछे बिना एक भी कदम आगे नहीं चला जा सकता ऐसी हमारे समाज की मनोदशा है । जहाँ स्त्रियों की मानसिक स्थिति मात्र एक गुलाम जैसी हो, वहाँ दूसरी आशा किस तरह से रख सकते हैं ?' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'हमारे जीवन की किसी भी परिस्थिति में उनके जीवन साथी के रूप में हमें मन हृदय के साथ हृदय मिलाकर उनके साथ संपूर्णरूप से एकता बनाये रखें ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'पत्नी हमारा सब कुछ माने यह आग्रह छोड़ दें, उसके साथ दिल खोलकर बातें करें । कड़ापन और मिजाजीपन न रखें ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'जहाँ अपेक्षा नहीं है, बदले की भावना नहीं है, किसी की भी कुतूहलता नहीं है, प्रयोजन का बिलकुल भाव नहीं है, जहाँ ऐसा सब है, वहाँ पुरुष का पुरुषपन स्त्री की अखंड मर्यादा रखता है ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'अपनी पत्नी रोगी हो और उसकी सेवा करने पर लोग हमारी निंदा करें तो भले, यह तो हमारा धर्म है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

उपरोक्त विविध अवतरणों में पति ने अपनी तरफ और पत्नी की ओर किस प्रकार का व्यवहार-परिवर्तन करना चाहिए, इन बातों में श्रीमोटा के चिंतन का दर्शन होता है । श्रीमोटा का चिंतन ऐसा कहता है कि पति को यानी कि पुरुष को अपने आपकी सर्वोपरिता त्याग करके पत्नी को भावपूर्ण दृष्टि से आदर देना चाहिए । अपनी सर्वोपरिता निर्मूल करके पत्नी के कार्य में, पत्नी की प्रवृत्तिओं में रस लेकर सहकार देना चाहिए । समर्पण, परिश्रम, सहनशीलता, त्याग और बलिदान के पाठ पत्नी के पास से सीखने का बतलाकर श्रीमोटा आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं कि पत्नी को मात्र बेगार करनेवाला मजदूर मत मानो । पुरुषप्रधान समाज में पुरुष पत्नी पर सतत हुक्मबाजी चलाता है । दूसरी तरफ

शिक्षित नारी अपनी स्वतंत्रता और समानता बनी रहे उस तरह से पति प्रेम के लिए उत्सुक होती हैं । ऐसी सूक्ष्म बातों का ख्याल पति को रखना ही रहा । घर में सफाई करनी, फर्निचर व्यवस्थित करना, आये हुए मेहमानों की सेवाटहल करनी, बाजार-खरीदी करनी आदि आदि ये सभी कार्य मात्र स्त्री के ही हैं - ऐसा जड़ दुराग्रह पुरुषों के दिमाग में स्थायी हुआ देखने को मिलता है । श्रीमोटा ऐसा दुराग्रह छोड़कर पत्नी के प्रत्येक कार्य में हो सके उतना सहकार देने के कहते हैं । 'सभी कार्य करते समय पत्नी को पूछना ही चाहिए ।'-इस प्रकार की स्थापित हुई गृहरूढ़ि त्याग करके 'पत्नी' को गुलामदशा में से मुक्त करने को आपश्री कहते हैं ।

पत्नी वह कुटुंब का केन्द्र है । उसकी मानसिक शांति बनी रहे, उसका स्वमान बना रहे, उसका पत्नी के रूप में रूतबा बना रहे इन बातों का ख्याल पति को ही रखना चाहिए । इसके लिए पति को अपना मिजाजीपन (एक प्रकार का पुरुष होने का अहम् ।) छोड़कर खुले दिल से वर्तन करना चाहिए ऐसा श्रीमोटा कहते हैं । पुरुषों को दिशासूचन करते आपश्री सूचन करते हैं कि जीवन की कोई भी परिस्थिति या भले-बुरे संयोगों में, पुरुष को हृदय में और मन में अपनी पत्नी को 'जीवनसाथी' के रूप में भूलना नहीं चाहिए । पत्नी का जीवन अपने ही जीवन का एक भाग है, ऐसी जागृति के साथ की भावना रखकर 'जीवनसंगिनी' के जीवन में संपूर्ण रस

बनाये रखना चाहिए । **आर्थिक विषचक्र में फँसा हुआ वर्तमान पुरुष अपनी पत्नी के जीवन में थोड़ा बहुत भी रस लेना शुरू करेगा तो उसी क्षण उनके दाम्पत्यजीवन में स्नेह के रंग भर जायेंगे, उसमें शंका का कोई स्थान नहीं है । श्रीमोटा की यह हलकी सलाह प्रत्येक पुरुष को मानने जैसी है ।**

पुरुषप्रधान समाज में बीमार पत्नी की सेवाटहल करनी उसमें भी अनेक पतिदेव क्षोभ अनुभव करते होते हैं । पत्नी को अस्पताल ले जाना, दवा पिलाना या उसकी सेवाटहल करनी उसमें पति का दंभी अहम् घायल हो ऐसा भ्रम आज के कितने पुरुषों में देखने को मिलता है । इस संदर्भ में श्रीमोटा पति को संकोच रखे बिना पत्नी की सेवा करने को कहते हैं । इतना ही नहीं, पतिधर्म निभाने का मौका मिला है, ऐसा मानने को कहते हैं । समाज, मित्रसमूह, सगेसंबंधी सभी की निंदा सहन करके भी पत्नी की सेवा करनी ही चाहिए ऐसा आग्रह श्रीमोटा रखते हैं । 'अपनी पत्नी की हो सके उतनी सेवाटहल करना ।' ('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

दाम्पत्यजीवन की शिक्षा के संदर्भ में पति को ध्यान में रखकर बहुत सारा कहा है वैसे पत्नी को भी केन्द्र में रखकर शिक्षालक्षी बहुत कुछ कहा है । श्रीमोटा भारपूर्वक कहते हैं कि प्रत्येक पुरुष के जीवन में 'स्त्री' जाने-अनजाने मार्गदर्शक होती है । 'पुरुष माँ, बहन, पत्नी, उपपत्नी या ऐसी

अन्य स्त्री की सलाह से चलता रहता है ।' ('विवाह हो मंगलम्', पृ.) पुरुषों के जीवन में स्त्री महत्त्व का भाग निभाती है, इसकी जीवन्त चेतना पुरुषों को होती नहीं है । परिवारवृत्त में केन्द्रस्थान में (पत्नी) स्त्री होती है । इससे परिवार की समृद्धि में स्त्री जितना कर सकती है, उतना दूसरा कोई नहीं कर सकता है । पत्नी का व्यवहार कैसा होना चाहिए ? पति के साथ का व्यवहार, बालकों के साथ का व्यवहार, सास के साथ का या परिवार के सदस्यों के साथ का उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए ? आदि छोटी छोटी जीवनलक्षी अनेक बातों के बारे में श्रीमोटा के विचार प्रत्यक्ष स्वरूप में दाम्पत्यजीवन की शिक्षा समान हैं ।

(२) पत्नी संबंधी विचार

'पति के जीवन में एक प्रेमरसभाव से घुल जाने को बहुत प्रयत्न करना । जीवन में एकराग-एकरस आये बिना सच्चा आनंद जन्म नहीं लेता है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'संसार में अपने पति के साथ सुखी रहने के लिए उसके सम्बन्ध का किसी भी तरह का पूर्वाग्रह मन में बंध गया हो, वह टले यह आवश्यक हैं ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'पति के प्रति भक्तिभाव रखना । वह तुम्हारी सेवा करे या न करे उसकी कोई भी असर मन पर नहीं होने देनी है ।

हमें अपना धर्म निभाना है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'घर-संसार में जो स्त्री सबसे पहले अपने पति को राजी न कर सके, वह स्त्री मेरे मन में स्त्री ही नहीं है । यदि हमारा अपने पति पर हृदय का सच्चा प्रेमभाव हो तो उसके लिए उसे प्रसन्न रखने के लिए मृत्यु भी हमें प्रिय लगनी चाहिए । पति और हमारे बीच किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए । पति ही हमारा सर्वस्व है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'हमें अपने प्रेम में घुल जाना है । इससे हमें स्वतंत्र व्यक्तित्व भी मिटा देना है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'हमारा पति हमें न चाहता न हो तो भी उसे चाहकर उसके सुख के लिए घिस जाना; एक दिन उसका परिवर्तन होगा ।' ('श्रीमोटा के साथ वार्तालाप', पृ.)

'जो स्त्री भक्तिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, ज्ञानपूर्वक अपने पति के अधीन रहती है, वह संसार को तर जाती है और अपने पति को भी तार सकती है ।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'हमारा पति यह कोई शरीरधारी *जीव* है, वह नहीं पर उसमें जो भगवदीय चेतना है, वह हमारा 'पति' है । उसे हमें खुश करना है । ('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'पति यह शरीर का पति नहीं है, परन्तु आत्मा के अधिष्ठान की भूमिकारूप आत्मा का भान को जगाने के लिए यह प्राप्त साधन मात्र है। इस तरह से हमारी दृष्टि, वृत्ति और भाव उनमें रखें। ('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'हिन्दू स्त्री को विवाह करने के बाद नया अवतार होता है। उसके माता-पिता, वातावरण और जीवन सभी पलट जाता है। उसे अपनी रहनीकरनी, स्वभाव यह सब पुराना गिनकर भूल जाना होता है और नये वातावरण के अनुकूल हो जाना है। इससे यह नया जन्म गिना जाता है।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'सास के साथ का हमारा संबंध बहुत भाववाला रखना। वे हमारी बड़ी बहन या माँ हो ऐसी हृदय की भावना अधिक से अधिक विकसित करनी है।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यनावना', पृ.)

'वही (ससुराल) हमारा तो तपोवन है।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'बहू तो घर की शोभा है। घर बहू से शोभित होता है। घर के संस्कार बहू से शोभित होते हैं। घर के संस्कार बहू से पता लगते हैं। बहू घर का ढक्कन है।'

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

उपरोक्त विधान 'पत्नी की शिक्षा' संबंधी प्रकाश डालते हैं। श्रीमोटा बतलाते हैं कि आदर्श पत्नी बनने अथवा सच्चे

अर्थ में आधा अंग बनने के लिए पत्नी को पति के जीवन में एकरूपता से हृदयस्थभाव से मिल जाना चाहिए। पति ही सर्वस्व है वैसी हृदय की भावना विकसित करके पति को प्रसन्न रखने, मृत्यु को भी प्रिय करना चाहिए। पति का सुख और उसकी प्रसन्नता के लिए उनके साथ हृदय से भावपूर्ण रूप से अनुकूलन साधना है। **पति के आदर्श, रहनीकरनी, मंतव्य, विचार, संस्कार, वृत्तिओं, धर्म, आदत और आर्थिक मजबूती आदि अनेक बातों में समझपूर्वक अनुकूल होना यही पत्नी के जीवन की सच्ची दिशा है।** वर्तमान युग में शिक्षित स्त्रियाँ अपने पति के साथ या पति के परिवार के साथ अनुकूल होने की अपेक्षा Action-Reaction (क्रिया-प्रतिक्रिया) की वृत्ति में अधिक ध्यान देती हैं। इससे उभय पक्ष में तकरार, क्लेश, वैचारिक संघर्ष और मानसिक तनाव खड़े होते हैं। चेतावनी के स्वरूप में श्रीमोटा समझाते हैं कि किसी भी तरह के पति के सम्बन्ध का पूर्वाग्रह बँधा हो तो उसे टालना ही चाहिए। किसी भी प्रकार की अपेक्षा बिना पति की सेवा करके पत्नी को अपना निजधर्म निभाना है। भक्तिभाव से स्नेहपूर्ण ढंग से अपना स्वधर्म निभानेवाली पत्नी पति में भी पतिधर्म का ज्ञान प्रकट कर सकती है, इसप्रकार श्रीमोटा ने अपने विचारों में स्त्रीशक्ति की प्रशंसा की है।

प्रगतिशील समाज में प्रगति के धक्कों के नीचे आजकल स्वच्छंदता और प्रपंचता बढ़ती जा रही है। पति के कहने में

रहना, हृदयपूर्वक पति के पथ पर चलना, उसे गुलामी कही जाती है । पति को आजीवन साथी के रूप में न गिनकर Life Pantner के रूप में देखने की फैशन बढ़ती जा रही है। इससे जहाँ ऐसी Partnership खड़ी हो, वहाँ स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रिया, वाद-विवाद, कर्तव्य-अधिकार लाभ-हानि, जैसे जीवन के स्थूल द्वन्द्व दाखिल होते हैं । परिणाम में पति और पत्नी के बीच मानसिक दीवार का निर्माण होगा । जिससे दाम्पत्यजीवन में स्नेह और सहकार के स्थान पर दाव और प्रतिदाव अधिक मजबूत होते जाते हैं । अंत में दो जिंदगिओं में समाया हुआ एकत्ववाला जीवन टूटने लगता है । ऐसे इस आधुनिक युग में श्रीमोटा का दाम्पत्यजीवन का शिक्षालक्षी चिंतन प्रकाशस्तंभ के समान है । वे ज्ञानपूर्वक, श्रद्धापूर्वक और भक्तिपूर्वक पति के अधीन होने पत्नी को बतलाते हैं । ऐसी समझदारीपूर्वक की अधीनता के पीछे उनका सूक्ष्म तत्त्वज्ञान रहा हुआ है । जहाँ भक्तिमय अधीनता होगी, वहाँ अधिकार घुल जायेगा । जहाँ श्रद्धापूर्वक अधीनता होगी, वहाँ शंका-कुशंका निर्मूल होगी और विश्वास का विस्तार बढ़ता जायेगा । उसी तरह जहाँ ज्ञानभक्तिपूर्वक की समझदारी होगी, वहाँ तकरार, क्लेश या तनाव का अवकाश नहीं रहेगा । ऐसे समझदारीपूर्वक और श्रद्धापूर्वक अपने पति के अधीन रहनेवाली पत्नी संसार तर जाती है, इतना ही नहीं, अपने पति को भी तारती जाती है ।

विवाह के बाद जीवनसाथी का साथ निभाने पत्नी मायका त्यागकर पतिगृह (ससुराल) में स्थिर होती है । ऐसे जीवनमोड़ में पति को मात्र पत्नी के साथ ही अनुकूल होना होता है । जब कि पत्नी को सास, ससुर, ननंद, देवर, अड़ोस -पड़ोस और नये सगेसंबंधी-सभी के साथ अनुकूल होना होता है । इसके अलावा नये घर के वातावरण के साथ, नये रीति-रिवाजों के साथ, नयी विचारधारा के साथ भी सुमेल बनाये रखना होता है । श्रीमोटा की विचारसरणी अनुसार पत्नी के लिए यह नया जन्म गिनायेगा । कारण कि पुराना सभी सहजता से छोड़कर नया सब कुछ स्वीकार करने में आता है । जीवन के ऐसे संवेदनशील मोड़ के समय पर श्रीमोटा उपदेश देते हैं कि पत्नी को सास के साथ मा या बड़ी बहन समान सम्बन्ध साधना चाहिए । अपनी सगी माँ समान सास के साथ व्यवहार करना चाहिए । बहू को ही सभी के साथ सुमेल साधना होने से उसके पक्ष में ही परिवर्तन प्रक्रिया हाथ रखनी होती है ।

नववधू को सीख देते हुए श्रीमोटा समझाते हैं कि बहू यह घर का ढक्कन है । घर के संस्कार, घर की शोभा, घर के रीतिरिवाज बहू के माध्यम से ही प्रदर्शित होते हैं, क्योंकि परिवार में केन्द्रस्थान पर क्रियाशील पात्र के रूप में उसे व्यवहार करना होता है । इसलिए ही उसकी विशेष जिम्मेदारी है । यह जिम्मेदारी निभाने के लिए मानसिक कष्ट

भी सहन करना होता है । इसलिए ही ससुराल को श्रीमोटा तपोवन की उपमा देते हैं। दाम्पत्यजीवन की सफलता आकाश से बारिस की तरह बरसती नहीं हैं, परन्तु इसके लिए सजगता से, सहृदय समझदारी से प्रयत्न करने पड़ते है। मन और हृदय की विशालता धारण करके, चित्त की नीरवता निर्माण करके, समझ के ताने-बाने बुन बुनकर, ससुराल में अपना स्थान ऊँचे लाना होता है । समझने, मन को मनाने, शरीर को समझाने एवं समझदारी से सभी सहन करने की यह सभी क्रियाएँ पत्नी को अपने पक्ष में अपने आपका निर्माण करने के लिए करनी है । इसलिए ही यह एक प्रकार का तप है । ऐसा तप करनेवाली स्त्री ही सतीत्व प्राप्त करती होती है। जन्म देनेवाले माता-पिता के संस्कार द्वारा ससुराल में प्रकाशित होना है । त्याग, समर्पण, सहनशीलता, बलिदान, सहिष्णुता जैसे उत्तम गुण अपने में विकसित हो, इस हेतु से सतत जागृत रहना, उसके जैसा तेजस्वी तप कौनसा हो सकता है ? ऐसे तप में ही भगवान के दर्शन करने ऐसी मानसिक भूमिका बनानी है, यही पत्नी का उत्तम श्रृंगार हो सकता है। इसलिए श्रीमोटा सकारण ससुराल को तपोभूमि और भगवान की व्रजभूमि के साथ तुलना करते हैं ।

श्रीमोटा ने पति और पत्नी को जैसे व्यक्तिगत मार्गदर्शक सूचन किये हैं वैसे दोनों जनों को सामूहिक रूप से भी बहुत कुछ कहा है ।

(३) दाम्पत्यभावना

'अपने साथ जुड़े हुए **जीव** की जो कोई **जीव** अवगणना करता है, वह समाज की भी अवगणना करता है ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'एकदूसरे को समझने के लिए सच्चे दिल से प्रयत्न करना ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'हम अपनी पत्नी, माता-पिता सभी संबंधों को नकार करके भगवान को प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'जीवन का चिंतन करो । एकदूसरे के दोष एकदूसरे में नहीं पर अपने में ही देखना रखोगे तो कल्याण होगा ।

('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.)

'घर का वातावरण हृदय की सद्भावना से भरा सुमेलवाला रहे, उसमें दोनों का कल्याण है, यह निश्चित जानना और तुम दोनों तरह से वर्तन करना ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'जमीन में वृक्ष के बीज का लग्न (जुड़ना) होता है और कृपारूपी जल उस पर पड़ने से उसमें से जीवन प्राप्त होता है, वैसे लग्न होने के बाद भावात्मक रूप से जीने से अर्थात् एकराग से एक भावमय होकर रहने से उच्च जीवनस्थिति एकमय होने की स्थिति खिल उठती है ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'पुरुष-स्त्री से केवल सेवा का आनंद नहीं माँगता, परन्तु वह तो स्त्री के हृदय की प्रेरणा से संतुष्ट होना चाहता है, गृहव्यवस्था में जहाँ सौन्दर्य प्रकट हुआ है, शांति-समतावाला और प्रसन्नतावाला वातावरण है, जहाँ योग्य प्रकार की सुव्यवस्था है, जहाँ जो भी सब उसके योग्य स्थान पर है, जिसे देखकर दिल और आँख ठहरती है, ऐसी कला जिस स्त्री के जीवन में प्रकट हुई है, वहाँ पुरुष का दिल भी तृप्त हो सकता है । पुरुष का भी प्रत्येक बात में यद्वातद्वापन स्त्री के दिल को शांत नहीं कर सकता और संतोष भी नहीं दे सकता है । स्त्रीहृदय भी माँगता है - दिल और प्रेम के समर्पण की संपूर्ण भावना । दोनों एकत्व के लिए हैं ।'

('जीवनमंथन', पृ.)

'बालक का ठीक से पालन और उसके विकास का संपूर्ण आधार तुम्हारे दोनों के सुमेल पर और तुम्हारे दोनों के जीवन की दृष्टि, वृत्ति, व्यवहार और भाव पर है ।'

('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

श्रीमोटा दंपति को एकदूसरे के गुण द्वारा, एकदूसरे का जीवन विकसित करके दाम्पत्यजीवन अधिक मधुर बनाने का सूचन करते हैं । दाम्पत्यजीवन में मधुरता और सुसंवादिता सहज भाव से लानी हो तो दोनों को सच्चे दिल से एकदूसरे को समझना आवश्यक है । एकदूसरे की त्रुटियाँ जानकर अकुलाना नहीं है पर वे त्रृतियाँ निर्मूल करने एकदूसरे के

पूरक बनना है । दाम्पत्यजीवन में एकरागता, एकभावमयता या एकरसता की उच्च कक्षा लाने के लिए दोनों पात्रों को भावात्मक रूप से भावों के तार पर जीना सीखना जरूरी है ।

जैसे बाह्य व्यवस्था का अधिष्ठाता पुरुष है वैसे गृहराज्य भोगने का अधिकार स्त्री का है । श्रीमोटा बतलाते हैं कि गृहव्यवस्था सुंदर होगी, घर का वातावरण प्रसन्नतावाला और शांतिवाला होगा तो पुरुष की आँख और दिल हमेशा तृप्त होंगे । उसी तरह पुरुष यद्वातद्वापन त्याग करके, प्रेम और समर्पण की भावना से बरतेगा एवं सच्चे अर्थ में आजीविका निभानेवाला होगा तो दाम्पत्यजीवन में स्वयंभू एकत्व आयेगा । कुटुंबभावना विकसाने का आग्रह करते श्रीमोटा बतलाते हैं कि माता-पिता या ऐसे दूसरे संबंध नकार करके कोई भी व्यक्ति कभी दिव्यता प्राप्त नहीं कर सकता है ।

दाम्पत्यजीवन का गूढ़ अर्थ समझाते हुए श्रीमोटा कहते हैं कि 'पुरुष और प्रकृति के मेल बिना जगत में कुछ उद्‌भव नहीं हो सकता है । जहाँ और वहाँ सभी जगह पुरुष और प्रकृति के खेल खेले जा रहे हैं । हमारे में भी पुरुष और प्रकृति है । ऐसे तत्त्वज्ञान की समझ हमारे में उगे उस कारण से हमारे दृष्टा-पुरुषों ने विवाहप्रथा शुरू की होगी ।' ('श्रीमोटा की दाम्पत्यभावना', पृ.) विवाह के पीछे का भावार्थ समझाते हुए आपश्री कहते हैं कि हमें अपनी प्रकृति को जान करके उसका और हमारी आत्मा का मिलन करना है ।

श्रीमोटा के तत्त्वज्ञान अनुसार पति-पत्नी के बीच का स्थूल आकर्षण, स्वभावगत विरोध, वैचारिक एवं मानसिक संघर्ष, प्रकृतिजन्य या उष्माजन्य संघर्ष आदि के मूल में क्या है, उसे जानें और उसमें से समझ पाकर के जीवन को उन्नत बनाने की भावना रखकर ज्ञानयुक्त भाव रखकर के सभी संघर्ष टाल करके ऐक्यरूप धारण करें, यही श्रीमोटा की दाम्पत्यजीवन की शिक्षा है ।

समाज में ऐसा भी देखने को मिलता है कि उच्च पदवी प्राप्त करनेवाला व्यक्ति, अपने व्यावसायिक क्षेत्र या अपने कार्यक्षेत्र में बहुत ही उच्च सिद्धि हासिल की हो, परन्तु सांसारिक क्षेत्र में निष्फलता मिली हो, ऐसा भी देखने को मिलता है कि उच्च शिक्षण प्राप्त करनेवाले दंपति में कभी दाम्पत्यभावना का संपूर्ण अभाव हो । यह सच है कि दाम्पत्यजीवन कैसे जीना ? परस्पर प्रेम किस तरह से रखना ? एकदूसरे के किस तरह से पूरक बनना ? आदि बातें अभ्यासक्रमलक्षी पदवीधारी शिक्षण से सीखने को नहीं मिलती हैं । दाम्पत्यजीवन की ऐसी शिक्षा तो आत्मसूझ द्वारा, स्वयं के निर्माण द्वारा, बड़ो के मार्गदर्शन द्वारा और संत-महापुरुषों के प्रेरणादायी सूचनों के द्वारा ही मिल सके ।

श्रीमोटा समाज में रहकर समाजनिर्माण का कार्य करते रहते होने से आपश्री अनेक परिवारों में, परिवार के सदस्य की तरह ही रहते थे । स्वजनों, श्रीमोटा को परिवार के बड़े

रूप में ही स्वीकार करते थे । श्रीमोटा स्वजनपरिवार को अपने निजी परिवार ही गिनते । संक्षेप में श्रीमोटा और स्वजनों के बीच आत्मियतापूर्ण पारिवारिक संबंधों के द्वारा श्रीमोटा ने अनेक स्वजनों और उनके परिवारों को 'दाम्पत्यजीवन' संबंधी गहरा, सूक्ष्म और सरल मार्गदर्शन देकर के उनके जीवन में प्रकाश भर दिया है । आपश्री ने पति-पत्नी दोनों को कभी उलाहना दिये बिना या गुस्सा हुए बिना प्रेमभाव से, 'समझ' देकर के उनके दाम्पत्यजीवन के नाजुक प्रश्नों का समाधान करके, जीवननैया को टकराने से बचाकर सुरक्षित किनारे पहुँचाई है । तलाक तक पहुँची हुई परिस्थिति को नया मोड़ देकर के हमेशा जीवनसाथी के रूप में जीना सिखाया है । श्रीमोटा केवल संत न थे पर सामाजिक संत थे । अपने स्वजनों के जीवन में, स्वजन की विनती से, रस लेकर के, उनके जीवनों को महकते किये हैं ।

विवाह अर्थात् दाम्पत्यजीवन यह माया नहीं है, यह तो सृष्टि का कानून है । पतिपत्नी में खड़ी हुई वृत्तिओं का ज्ञानपूर्वक उपयोग करके उन वृत्तिओं को ऊर्ध्वगामी करने के लिए विवाह यह सामाजिक व्यवस्था है ऐसा आपश्री समझाते हैं । विवाह का सूक्ष्म अर्थघटन करते वे कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के साथ विवाहसंबंध से जुड़ना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति में भी प्राण और प्रकृति के दिव्यविवाह होने चाहिए । पतिपत्नी स्वरूप में

दाम्पत्यजीवन जीना यह तो एक निमित्त है, प्रकृति के साथ प्राण का और प्राण के साथ प्रकृति का दिव्य मिलन करके अद्वैत के अनुभव के लिए विवाह है ।

हाँ, दाम्पत्यजीवन का स्वीकार करते हुए वे दोनों पात्रों को आत्मा स्वरूप में एक होने को कहते हैं । पति और पत्नी सच्चे अर्थ में एकदूसरे के लिए आधा अंग बने और एकदूसरे की त्रुटियाँ जानकर एकदूसरे के पूरक बनें तभी समाज द्वारा रची इस सुन्दर व्यवस्था का लाभ पूरे समाज को मिलेगा, जिससे एकाध कृष्ण या एकाध विवेकानंद यह समाज प्राप्त कर सकेगा ।

दाम्पत्यजीवन में कदम कदम पर खड़ी होती 'पुरुषजन्य' या 'प्रकृतिजन्य' समस्याएँ जैसी कि पति-पत्नी के बीच मनमेल बिना स्थूल आकर्षण, वैचारिक समझ का अभाव, प्रकट विरोध, दोनों पक्ष में अहम् का अतिरेक, दोनों पक्ष में एकदूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने का स्वभाव आदि श्रीमोटा के मौलिक विचारों में इन सभी समस्या को निर्मूल करने के व्यवहारु उपाय देखने को मिलते हैं और वही उनकी दाम्पत्यजीवन की सचोट शिक्षा है ।

जीवन में मौलिकता और प्रसन्नता प्रकट करने और जीवन के सनातन सुख का अनुभव करने पति-पत्नी दोनों की हृदयस्थ एकता पर वे भार रखते हैं । वे शिक्षण देते हुए कहते हैं कि दोनों को अपनी प्रकृति समझनी होगी, स्वयं अपनी

वृत्तिओं को पहचानना पड़ेगा, उसका उपयोग करते समय जाग्रत संयम बनाये रखना होगा, तभी दाम्पत्यजीवन के पीछे का प्रभु द्वारा सूचित ध्येय सार्थक हो सकेगा ।

पति को केन्द्र में रखकर श्रीमोटा पत्नी को श्रम करनेवाली या मजदूर न गिनने का आक्रोशमय सूचन करते हैं । साथ साथ पुरुष को अपना अहम् त्यागने और सर्वोपरिता छोड़ने को प्रेमपूर्वक समझाते हैं । पत्नी के कार्य में, पत्नी की प्रवृत्ति में और पत्नी के जीवन में हृदयपूर्वक रस लेकर सच्चे अर्थ में पति को पतिपद प्राप्त करना चाहिए । दूसरी तरफ, पत्नी को सच्चे अर्थ में अर्धांगिनी बनने का सूचन करते हुए आपश्री कहते हैं कि पति के आदर्श, रहनसहन, मंतव्य, विचार और संस्कार आदि सभी बातों में समझदारीपूर्वक की अनुकूलता साधकर पति के जीवन में प्रतिबिंब की तरह एकरूप होना यही पत्नी का जीवनकर्तव्य है । इसप्रकार श्रीमोटा ने दाम्पत्यजीवन की शिक्षा संबंधी विस्तृत चर्चा की है । उनके विचार और चिंतन में विवाह का गूढ़ अर्थ, दाम्पत्यभावना की समझ, पति और पत्नी के कर्तव्य, व्यवहार के रीतिरिवाज, ससुराल की पक्की समझ आदि विषयों की समझ सरल शब्दों में मिल जाती है ।

• • •

॥ हरि:ॐ ॥

८. संसार-पाठशाला एवं प्रयोगशाला

श्रीमोटा को सभी एक महान संत के रूप में देखते हैं। परन्तु श्रीमोटा साथ ही साथ एक प्रखर चिंतक, लेखक एवं जीवननिर्माता थे। इसकी जानकारी बहुजन समाज को शायद नहीं है। श्रीमोटा ने स्वजनों तथा जिज्ञासु साधकों को जीवनविकास के हेतु से मार्गदर्शन देते अनेक पत्र लिखे थे - जो बाद में संपादित होकर पुस्तकरूप में समाज के सामने प्रस्तुत हुए हैं। इन सभी पुस्तकों की विशिष्टता यह है कि 'जीवन' शब्द पुस्तक के नामकरण में सामान्य रखा हुआ है। इसके पीछे भी सूचक गूढ़ अर्थ जुड़ा हुआ है। 'जीवन' शब्द में श्रीमोटा सभी को सूचित करते हुए कहते हैं कि जीवन और संसार को स्वनिर्माण की शिक्षा के उत्तम साधन के रूप में स्वीकार करना है।

निर्माल्य जीवन से छूटने के हेतु से नर्मदा में कूदने और किसी अदृश्य शक्ति द्वारा हुआ अपना अद्‌भुत बचाव ने आपश्री को नवीन चेतना अर्पण की थी। उसके बाद जीवन का सहर्ष स्वीकार करके, कदम-कदम पर जीवनसाधना द्वारा 'दिव्यजीवन' का उत्तम नमूना आपश्री ने समाज के सामने रखा है। **श्रीमोटा का संसारलक्षी चिंतन अनुभव से गुजरा हुआ है, इसीसे वह उत्तम शिक्षा के समान है।** जगत के

महान चिंतकों ने समाज या जीवन को विविध उपमाएँ या विशेषण दिये हैं, किसी ने संसार को 'मिथ्या' कहा, तो किसी ने संसार को 'माया' कहा, तो किसी ने संसार को 'नाटक का स्टेज' कहा, तो किसी ने संसार को 'कागज की नाव' कहा, तो किसी ने संसार को 'काँटे की बाड़ी' कहा – **परन्तु श्रीमोटा ने संसार को जो उपमा दी है वैसी शायद जगत में किसी चिंतक ने नहीं दी होगी । उन्हीं के शब्दो में, 'संसार यह तो जीवन का बोधपाठ सीखने की पाठशाला है और जीवनविकास करने के लिए प्रयोगशाला है ।'** ('जीवनपराग', पृ.) अर्थात् श्रीमोटा आजीवन चलती प्रक्रिया के रूप में शिक्षा का स्वीकार करके 'संसार' को शिक्षा का विशाल क्षेत्र बतलाकर उसे पाठशाला और प्रयोगशाला के स्वरूप में देखते हैं । वे संसार को दिव्यजीवन के लिए साधना के एक साधन रूप में स्वीकार करने को बतलाते हैं । **संसार का स्वीकार सामान्य *जीव* की तरह नहीं करना है । जीवन के लिए प्राप्त सृष्टि एवं सभी सगे-संबंधिओं में प्रभु के दर्शन करते करते भावपूर्ण रूप से स्वीकार करना है ।** ऐसे विवेकपूर्ण स्वीकार के पीछे शिक्षा का सूक्ष्म हेतु भी रखना है ।

सामान्य रूप से अनेक व्यक्ति संसार में सामने आती प्रतिकूलताओं, अवरोधों, वेदनाओं, दुःखों या कठिनाईओं अथवा कर्मों के कर्तव्यों से 'भाग जाने' की भगोड़ा वृत्ति को

पोषन देने 'प्रभु' के नाम का सहारा लेकर संसार त्यागते होते हैं । श्रीमोटा ऐसी भागने की वृत्ति को पोषने की मना करते हैं और संसार में ही रहकर ऊर्ध्व जीवन के लिए सतत शिक्षालक्षी संघर्ष किया करने को सूचित करते हैं । **'संसार में जहाँ वहाँ समग्र जहाँ देखो वहाँ संघर्ष, घर्षण आदि ही हैं ।' इसका हेतु तो साधक के लिए ऊपर आने और अपनी आंतरिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है ।'** ('जीवनसोपान', पृ.) यानी कि ऊर्ध्व जीवन विकसित करने को मथते व्यक्ति को दैनिक व्यवहार में होते स्वभावदोष या वर्तनदोष के संघर्ष में विशेष दृष्टि रखनी है । प्रत्येक मौका जीवनविकास के लिए किस तरह उपयोगी हो पड़ेगा, उसका जीताजागता ख्याल सतत रखना है । माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, मित्र या सगे-संबंधी के साथ जीवनव्यवहार में होते संघर्षों का पृथक्करण करके जीवनविकास के हेतु के लिए स्वयं को ऊर्ध्वगामी बनाने क्लेश, कलह, वेदनाएँ, दुःख आदि का स्वीकार करके एक प्रकार की जीवनसाधना करनी है । यों, श्रीमोटा की दृष्टि से दिव्यजीवन की प्राप्ति के लिए का सच्चा आध्यात्मिक मार्ग यह प्रत्यक्ष जीवनसाधना का मार्ग है यानी कि सच्चा और एकमात्र शिक्षणबल जीवन स्वयं है ।

इसप्रकार संसार में शिक्षालक्षी दृष्टि से जीना यह एक प्रकार की शिक्षण-संस्कार प्रक्रिया है । व्यक्ति जाने-अनजाने

आसपास समाज से कुछ सीखता ही होता है । जिसे कुछ सीखना ही है, उसके लिए तो संसार में आते सभी व्यक्ति शिक्षक हैं । 'संसार पाठशाला या प्रयोगशाला' है । उसकी पूर्ति करते श्रीमोटा के विचार निम्न अनुसार हैं –

'संसार मिला है, शक्ति का विकास करने, शक्ति के ज्ञान के अनुभव के लिए ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'संसार का क्षेत्र जीवनविकास की साधना के लिए उत्तम प्रकार का है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'संसार यह जीवन की महक बदलने के लिए प्राप्त हुई तपस्या की भूमिका है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'संसार तो जिसे सीखना है, उसका तो प्रत्यक्ष गुरु है । इससे तो कितना कितना सीखा जाता है ।

('जीवनपुकार', पृ.)

'संसार यह मरुभूमि नहीं है, परन्तु साधनामय जीवन जीने के लिए तपोमय भूमि है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'प्रभु ! तुम्हारी शाला जगतभर में व्याप्त रही है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'संसार तो तप तप के शुद्ध होने की यज्ञवेदी है ।'

('संसार में वृंदावन', पृ.)

'जीवन में जो जो सब मिला है, वह सीखने के साधनरूप से मिला हुआ है ।'

('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

'जगत अर्थात् एक भव्य महान नीति की कसरतशाला या व्यायामगृह है । उसमें हमें प्रत्येक को व्यायाम करना है कि जिससे हम अधिक से अधिक आत्मबलवाले बनें ।'

('जीवनमंथन', पृ.)

'संसार तो ज्ञान की भावना विकसित करने के लिए है ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'संसार मिथ्या नहीं है, वह तो निर्माण के लिए मिला है ।' ('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में 'संसार' संबंधी श्रीमोटा के वेधक विचारों के दर्शन होते हैं । श्रीमोटा ने कहीं भी संसार की अवगणना नहीं की है । जीवनविकास की साधना के विविध क्षेत्रों में उत्तमोत्तम क्षेत्र कोई हो तो वह संसार है । जंगल में, हिमालय की गुफा में एकांत ऐसी साधना करना अधिक सरल है । पर जीवन जीते जीते संसार के बीच रहकर जीवन को दिव्यता देनी यह कठिन एवं मुश्किल है । **वाणी, व्यवहार और स्वभाव से पीड़ा देते सैंकड़ों व्यक्तिओं के बीच स्वयं अपना निर्माण करना, यह एक प्रकार का ऊँचे में ऊँचा तप है ।**

संसारजीवन में रहते रहते जो कुछ पसंद-नापसंद, धिक्कार या प्रेम जागे उसमें से 'शिक्षा' प्राप्त करनी यह सरल है ही नहीं । तथापि सीखने की आकांक्षा या विवेकदृष्टि होगी तो प्रत्येक व्यक्ति के पास से कुछ न कुछ सीख सकते हैं ।

संसार में रहकर अच्छा होना है, इसलिए अच्छा ही चाहना है, अच्छा ही देखना है और अच्छा ही सोचना आवश्यक है । इन्द्रियों, वासनाओं या स्वभाव के अधीन व्यक्ति की दृष्टि 'अच्छा' देखने में बहुत ही कष्ट अनुभव करता है । प्रत्येक व्यक्ति में जो कुछ अच्छा है, जो कुछ उत्तम है, उसका स्वीकार करके, उसकी व्यक्तिगत त्रुटियों के साथ तुलना करके ऐसी त्रुटियाँ निर्मूल करनी यह एक प्रकार का जीवनयज्ञ है । किन्तु यह जीवनयज्ञ संसार की तपोभूमि पर ही हो सकता है । संपूर्ण जगत प्रभु की शाला है, ऐसा बतलाकर श्रीमोटा 'संसार पाठशाला' है, उस विचार को अधिक दृढ़ बनाकर महत्त्वपूर्ण प्रदान करते हैं ।

संपूर्ण विश्व पाठशाला है, ऐसा आध्यात्मिक भाव विकसित करने के लिए ही शायद गुरु दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु किये थे । श्रीमोटा भी यही समझाते हैं कि **संसार यह तो प्रत्यक्ष गुरु है ।**

श्रीमोटा ने संसार को मात्र पाठशाला नहीं कहा, उसे प्रयोगशाला भी कही है । यानी कि जैसे वैज्ञानिक अनेक प्रयोग करके उन प्रयोगों का पृथक्करण करके भले-बुरे तत्त्व खोज निकाल देते हैं, उसी अनुसार संसार में—जीवनव्यवहार में प्रत्येक योग—संयोग द्वारा प्राप्त अनुभव वह एक प्रयोग है । प्रत्येक प्रसंग प्रयोग समान है । प्रत्येक प्रसंग का

जीवनविकास के लिए पृथक्करण करके अच्छे तत्त्वों का अवलोकन करना है । और ऐसे अच्छे अवलोकनों का संग्रह करके जीवन को संसाररूपी प्रयोगशाला में जाँच कर, छान-बीन कर उत्तम गुणवत्तावाला बनाना है । श्रीमोटा संसार को जीवनशुद्धि की भट्ठी भी कहते हैं । 'संसारव्यवहार का दावानल यह तो जीवन को छान-छान करके संपूर्ण शुद्ध होने के लिए की भट्ठी है ।' ('जीवनसोपान', पृ.) यानी कि जैसे पारा अग्नि में पूरी तरह परिपक्व होते उसकी भस्म बहुत गुणकारी होती है, जैसे सोना भट्ठी में सखत ताप में भस्म बनते उसका गुण शरीर में शक्ति पैदा करता है, इस तरह से संसार-व्यवहार का दावानल जीवन को शुद्धता देने के लिए है । इसप्रकार 'संसार' मिथ्या नहीं है, परन्तु तपस्या के लिए की तपोभूमि, सीखने के लिए की गुरुशक्ति है । ज्ञान की भावना विकसित करने के लिए एवं जीवननिर्माण गढ़ाने के लिए की पाठशाला एवं प्रयोगशाला भी है । संसाररूपी पाठशाला से किस तरह से शिक्षा प्राप्त करनी ? अर्थात् जीवनविकास के लिए संसारव्यवहारों में कैसी भावना रखनी ? किस तरह से व्यवहार करना है ? आदि बातों की शिक्षा देते हुए श्रीमोटा बतलाते हैं -

'सभी के साथ ज्ञानभक्तिपूर्वक का हृदय का सुमेल रखा करने में जीवन की यथार्थता है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'संसार गलत चर्चा या निंदा करने नहीं मिला है ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'जिन जिन **जीवों** के साथ हम रहते हों, उन सभी के बीच प्रेमभावनापूर्वक सुमेल प्रकट हो, ऐसा हमारा जीताजागता भाव उस तरफ का होना चाहिए ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'संसार जीवन का साफल्य विकसित करने के लिए मिला है । संसार मिला है जीवन का ज्ञानात्मक तारतम्य विकसित करने के लिए और प्राप्त करने के लिए ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'जीवन में प्रसंगों के सिवा दूसरे किससे हम गढ़ा सकने के हैं ? इससे प्रसंगों में तो गुरु बिराजित हुए हैं ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'जीवन में धूप-छाया तो आये ही । पर उन दोनों पक्षों का हेतु तो निर्माण के लिए का है । विष का कड़वा घूट पीने की बारी आये तो उसे अमृत के रूप में स्वीकार करके जो **जीव** जीवनसंग्राम खेलता है, वह जीवन जीना जानता है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'कोई भी **जीव** किसी भी प्रकार का हो और प्रत्यक्ष व्यवहार खराब से खराब हो, तब भी हमें तो उसमें सद्भावना सोचने का रखें यह हमारे लिए उत्तम प्रकार की शिक्षा है ।'

('जीवनप्रवेश', पृ.)

'संसार में जिसके साथ जुड़े हैं, उसके साथ मेल रख करके बरते वह भी भगवान का भजन ही हैं ।'

('मौनमंदिर में प्राणप्रतिष्ठा', पृ.)

'सभी जो संबंध में हों उनके सद्‌गुण नीरखा करने की शिक्षा का अभ्यास मन को प्रकट करने का जीवित ज्ञान जागृति से रखा करना है ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'हो सके उतने निःसंकोचरूप से ज्ञानपूर्वक जीवन में बरतना है । समाज के शिष्टाचार में जकड़ नहीं जाना है । यों ही हो और यों नहीं ही हो या वैसा तो नहीं हो, ऐसी विचारसरणी को प्रेम से तिलांजालि देनी है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'सही तरह से जीना तो वही कहलाता है कि जिस प्रकार जीने से संसारव्यवहार में जो सभी मिले हुए हैं, उन सभी को हम से प्रेम हो, उल्लास, उत्साह आये और हम से उनके जीवन में कुछ हलकापन, शांति, प्रसन्नता, आनंद प्रकट हो और उनके जीवन में हम से कुछ उपयोगी हो पड़ने का यदि प्रभुकृपा से होता हो तो वह वैसा बरत सके उस प्रकार का जीवन वह जीवन है ।' ('आ मिले वह अवसर', पृ.)

'सभी से सुमेलभाव से व्यवहार करना है । हमारे लिए कोई क्या कहता है, क्या सोचता है, उसकी कोई गिनती मन करने न बैठ जाये उसकी खास सँभाल अत्यधिक रखनी है ।'

('जीवनप्रवेश', पृ.)

'सब कोई हमारे ही हैं । ऐसी प्रेमभावना विकसित करना ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'बाहर का संसार और उसकी घटना वह तो मात्र अंतरमन का व्यक्त स्वरूप है । इससे संसार में जो कुछ बनता है, वही उसका कारण है । यदि ऐसा समझकर मन को दृढ़ करने का हो सके तो बाहर के कैसा भी व्यक्त होनेपन में हमें कहीं कुछ इधरउधर नहीं लगेगा ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'प्रत्येक संबंध हमारी आंतरिक चेतना को जीतीजागती रखने के लिए है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'संसार के सभी काम हमें करने भी हैं पर उसमें लिप्त न हुए बिना, तटस्थता से ! ('जन्म-पुनर्जन्म', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा संसार में रहकर भी स्वयं जागृति रखकर आत्मगढ़न किस तरह से करना है, उस बारे में शिक्षा देते हैं, संसार गलत चर्चा या निंदा करने में व्यर्थ बिगाड़ना नहीं है, परन्तु संसार से जीवन का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का जागृत प्रयत्न करना है । जीवन का साफल्य विकसित करने के लिए संसार मिला है । परन्तु यह साफल्य पाने के लिए जिन जिन **जीवों** के बीच हम रहते हों, उन सभी व्यक्तियों के प्रति प्रेमपूर्ण सुमेल जागे वैसा भाव, वैसा प्रयत्न व्यक्ति का होना चाहिए ।

उनके चिंतन अनुसार संसार की उपाधिओं से त्रस्त होकर दूर भागकर व्यक्ति को कायरता का प्रदर्शन नहीं करना है । परन्तु संसार की सभी विषमताओं, सभी कठिनाइयों को हँसते मुँह सहन करके, प्रत्येक विषमता या कठिनाई जीवनउत्थान के लिए प्रभु की ही प्रसादी है, वैसा भाव विकसित करते जाना है । श्रीमोटा बतलाते हैं कि जीवन में प्रत्येक प्रसंग वह एक एक शिक्षा का पाठ है । प्रसंगों से ही व्यक्ति अपने आपका निर्माण कर सकता है । विषम प्रसंगों या अनुकूल प्रसंगों-प्रत्येक प्रसंग श्रीसद्‌गुरुभाव विकसित करने से जीवन जीने की कला सीखते जाते हैं ।

संसार में धूप-छाया, चढाव-उतार, दुःख-सुख आये ही करते हैं । आपश्री के चिंतन अनुसार यह दोनों पहलुओं का हेतु निर्माण होने के लिए है । 'चेतन का अनुभव करने के लिए ही मानवी का जन्म मिलते दुःख, कष्ट, कठिनाई, उपाधि आदि सब **जीव** को सच्चा भान प्रकट करने के लिए हैं ।' ('जीवनसोपान', पृ.) अर्थात् संसारसंबंधों विरुद्ध में हो या तरफदारी में हो, व्यक्ति को अपना जीवनलक्ष ध्यान में रखकर उन सभी संबंधों में से गुणसर्जन करते सीखना है । इससे कभी जीवननिर्माण के लिए विष का घूंट पीने का आये तो वह पीकर के भी शिव बनने का ही प्रयत्न करना है ।

संसारसंबंधों की अचूक समझ देते हुए श्रीमोटा बतलाते हैं कि जैसे पानी का स्वभाव सखत नहीं है, वैसे संसार के

जीव जीवदशावाले यानी कि द्वंद्ववृत्तिवाले ही हो, पर पानी में घनता लाने या उसे वायुरूप देने का प्रयत्न करना पड़ता है, वैसे जीवन को भी ठोसता देने के लिए वृत्तिओं से पर होकर प्रयत्न करना ही पड़ता है । **'संसार यह तो वृत्तिओं से तैरने के लिए मुक्ति नौका है ।'** ('जीवनपुकार', पृ.)

श्रीमोटा का जीवनलक्षी चिंतन समझाता है कि संसार को पाठशाला का रूप देना है, यानी कि उसके पास से बहुत बहुत सीखना है । भजन भक्ति का दिखावा न करके **श्रीमोटा तो वहाँ तक कहते हैं कि संसार में जिसके साथ जुड़े हैं, उन सभी के साथ सुमेल रखना यह भी भगवान का भजन ही है ।** परन्तु ऐसा सुमेल प्रकट करने के लिए सभी के जीवन में या सभी के व्यवहार में सद्‌गुणों को ही नीरखना, ऐसा अभ्यास करने से जीवन विकसित होता जाता है । उनके ही शब्दों में, 'मानवी को संयोग, परिस्थिति, संसारव्यवहार जो भी सभी कर्मसंयोग से मिलते हैं, उन्हें भोगे बिना किसी का भी छुटकारा नहीं है । पर, वह सब मिलता है जीवन में गुणविकास के लिए । समता, तटस्थता, धीरज, सहनशक्ति, उदारता, त्याग ये सभी गुण कोई ऐसे के ऐसे विकसित नहीं हो जाते हैं । वे तो जीवन में उस उस प्रकार के संयोगों और प्रसंगों में हम वैसा वैसा ज्ञानभान प्रकट प्रकट करके बरतने का किया करें तभी उसका बल प्रकट होता है ।' ('संतहृदय', पृ.) यों, संसारसंबंधों में आये व्यक्ति की प्रकृति किसी

भी प्रकार की हो, तथापि उसमें रही हुई सज्जनता के गुण का आरोपण करने में, उसके बारे में सद्‌भाव होता रहे वह स्वगढ़न के लिए बड़ी शिक्षा है ।

श्रीमोटा प्रत्येक व्यक्ति को परिवर्तनशील होने का समझाते हैं । समाज, धर्म या संसार की रूढ़िओं के अनुसार जीवन को बाँधकर रखना नहीं है । यों ही हो या वैसा ही हो वैसा भाव छोड़ कर, संकोच रखे बिना ऊर्ध्व जीवन प्राप्त करने ज्ञानपूर्वक जो कुछ करना हो वह करना चाहिए । यों, परिवर्तनलक्षी दृष्टि के साथ दिव्यजीवन की प्राप्ति के लिए समझपूर्वक की साधना के प्रति अभिमुख होना एवं उस दिशा में क्रियाशील होना–ऐसा जीवनहेतु साकार करने का भाव संसार में विकसित किया करना है । उन्होंने बतलाये हुए जीवनविकास के इस साधनामार्ग में प्राप्त होते अनुभवों से दिव्यता प्राप्त करने को जागृत भी रहना है । और प्राप्त अनुभवों से उत्पन्न होती विविध समझों का पृथक्करण करके स्वयं को विकसित करके वैसी समझ दृढ़ करते जाना है ।

यों, संसार में रहकर साधना करने की श्रीमोटा की सूचित पद्धति सचमुच अद्‌भुत है । उनके चिंतन अनुसार – 'सच्चा प्रेम' यानी संसार में मिले हुए संबंधित *जीवों* के प्रति निथरते सद्‌भाव से निरपेक्ष भाव से चाहना, 'सच्ची भक्ति' यानी सभी मानवों में प्रदर्शन करना, 'सच्चा ज्ञान' यानी सभी मानवों में दिल में खुली हुई और

गहरी उतरी हुई समझ को जीवनविकास के लिए जीवन में बुन लेने की वृत्ति, 'सच्चा कर्म' यानी प्रत्येक प्रसंग में से जागृतरूप से गुण-ग्राह्यता प्राप्त करनी । संक्षेप में संसारशाला में ही ज्ञान, भक्ति और कर्म का त्रिवेणीसंगम करके जीवन को सार्थक करना है ।

संक्षेप में कहें तो संसार के प्रसंगों में और उसमें मिलते रहते कर्मों में तथा उस उस विषयक मन में पैदा होते विचार, भाव, वृत्ति आदि में व्यक्ति को जीवन जीने की कला प्राप्त करने की अमूल्य कृपातक मिलती रहती हैं । यह सब जानने के लिए एवं सीखने के लिए है, ऐसा जीताजागता ज्ञानभान जो व्यक्ति रखा करे, वह व्यक्ति संसार से ऊर्ध्व जीवन या दिव्य जीवन के लिए बहुत कुछ सीख सके वैसा है । यों संसार यह तो प्रत्यक्ष पाठशाला या प्रयोगशाला है ।

बाह्य दृष्टि से 'संसार पाठशाला एवं प्रयोगशाला' विषय को शिक्षण के साथ मानो कोई ही लेना देना नहीं है और केवल आध्यात्मिक मार्ग पर जानेवाले या जाने के लिए तंदेही व्यक्तिओं के लिए है वैसी छाप खड़ी हो वैसा है । यह सत्य बात है । परन्तु अब्राहम मेस्लो ने जीवन की आवश्यकताओं की जो सौपानिक श्रेणी (hierarchy) बतलायी है, उसमें सबसे ऊपर आत्मसाक्षात्कार (Self Actualization) की आवश्यकता आती है । आज का शिक्षण व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकता संतुष्ट नहीं कर सकता हो, जिस समाज में

प्रतिदिन शिक्षित बेकारों की संख्या बढ़ती जाती हो, वहाँ यह चोटी की आवश्यकता शिक्षा कहाँ से संतोष कर सके ?

परन्तु समाज में अमुक व्यक्ति हैं कि जो इस दिशा में क्रमशः धीरे धीरे आगे कदम बढ़ा रहे हैं। भारतीय संस्कृति का सूत्र है – *'सा विद्या या विमुक्तये'*, जो मुक्ति दिलाये वह विद्या। इस तरह से देखें तो इस बात की चर्चा अस्थान पर या अनुचित नहीं होगी। मनुष्य के जीवन का अंतिम ध्येय तो अंत में 'आत्मसाक्षात्कार' करना है। फिर भले ही उसके लिए अनेक जन्म लेने पड़ें। (अनेक लोग पुनर्जन्म में मानते नहीं हैं, वे इस बात का स्वीकार न करे, वह उनकी दृष्टि से ठीक है।) यहाँ 'जीवन का मूलभूत हेतु क्या है ?' 'जीवन किसलिए है ?' वैसी तत्त्वदर्शन की बात जुड़ी हुई है और शिक्षण में भी शैक्षणिक तत्त्वदर्शन शिक्षकों के लिए अभ्यासक्रम का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इस दृष्टि से भी उपरोक्त चर्चा यहाँ अनुचित नहीं है। वाचकों में से कोई एकाध का भी, यह लेख पढ़कर, अधिक नहीं तो पढ़ने का एकतरफ रख करके, आँख बंद करके दो मिनिट विचार करता रख दे तो अभ्यासक को संतोष होगा। अभ्यासक को पूरा भरोसा है कि वह ऐसा संतोष अवश्य प्राप्त कर सकेगा।

• • •

॥ हरि:ॐ ॥

९. समाजलक्षी शिक्षा

प्रत्येक समाज की अपनी खास संस्कृति, खास सभ्यता और खास जीवनमूल्य होते हैं, सामाजिक परंपराएँ और प्रणालिकाएँ भी होती हैं । इन सभी बाबतों को समाज की विरासत है ऐसा कह सकते हैं । ऐसे सामाजिक विरासत का जतन, संवर्धन या संरक्षण समाज के शिक्षित व्यक्तिओं द्वारा होता है । यानी कि व्यक्ति समाज के केन्द्र में है । व्यक्ति, कुटुंब, गोत्र, ज्ञाति, गाँव, प्रांत, राष्ट्र और जगत उस क्रम में उसके समाजजीवन का वृत्त विस्तृत होता जाता है यानी कि समाजजीवन के भूल में व्यक्ति है ।

वर्तमान समय में ऐसा देखने को मिलता है कि मानो समाज दिनप्रतिदिन बिखरता जाता है, काँच के हुए अनेक टुकडों की तरह छिन्नभिन्न हो गया है । उसके जीवनमूल्यों, उसकी सांस्कृतिक परंपराएँ आदि नष्ट होते जा रहे हैं । व्यक्ति अपने समाजजीवन का वृत्त अत्यन्त छोटा करके मात्र अपने तक सीमित बना बैठा है । इसीसे ही पंजाब, काश्मीर, आसाम, तामिलनाडु या आंध्र में रोज सैंकडों मनुष्यों की निर्दोष हत्याएँ होती हैं । तब भी समाज को खास असर नहीं होता । एक तरफ लाखों लोग पानी और अनाज के अभाव में अकालग्रस्त बनकर मृत्यु की राह देखकर बैठे हैं तो दूसरी

तरफ क्लब, होटल और फार्महाउस में 'संतुष्ट' लोग भोजन की मजा उड़ाने के लिए रोज इकट्ठे होते हैं ! कहाँ है समाज की संवेदनशीलता ?

आज २०,००० रु. में चपरासी, ४०,००० रु. में क्लर्क ९०,००० रु. में शिक्षक और १,००,००० रु. में प्रिन्सीपाल हो सकते हैं । कहाँ है समाज की नैतिकता ? प्रिन्सिपाल और शिक्षक सामूहिक उगाही करके परीक्षा में सार्वजनिक चोरी करवाते हैं ! पुलिस ही बलात्कार करने के लिए हल्ला करती है ! समाजउत्थान कोने में पड़ गया है और संसद या धारासभाएँ मात्र राजकीय कसरत करने के अखाड़े बन गये हैं ! संत, महंत, धर्माचार्य, समाजहित या समाजसुधारना भूलकर केवल व्यक्तिगत गद्दी को ऊँचा करने या व्यक्तिगत प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बुद्धिहीन स्पर्धा कर रहे हैं ! सामान्य मनुष्य, ये सभी दुराचरण सरकार को ही दूर करने चाहिए, इस भ्रम के साथ अपनी सामाजिक जिम्मेदारिओं से भाग जाने को मथता रहता है । ऐसे भद्दे चित्र के पीछे सामाजिक शिक्षा का अभाव कारणभूत है । बड़ी करुणता तो यह है कि व्यक्ति समाज से विमुख होता जा रहा है ।

शिक्षा का संबंध जितना व्यक्ति के साथ है, उससे भी अधिक समाज के साथ है । **समाज वह व्यक्ति का ही विराट स्वरूप है ।** इसलिए व्यक्ति का चरित्र, व्यक्तित्व, चिंतन, सूझ, समझ आदत, कुशलताएँ तथा जीवन की छोटी

से छोटी बाबतें समाजजीवन को असर करती है। दूसरी तरफ व्यक्ति के विकास के लिए सामाजिक साधन भी सहायभूत होते रहते हैं। यों, व्यक्ति और समाज के बीच एक प्रकार का आदान-प्रदान, एक प्रकार का अनुयोग चला ही करता है। समाजलक्षी शिक्षा का कार्य इस अनुयोग को विकासलक्षी बनाने का है। 'समाज को बैठा करने के जीवनमंत्र के साथ अंतिम श्वास तक समाजनिर्माण करनेवाले श्रीमोटा ने समाजलक्षी शिक्षा संबंधी व्यक्ति और समाज दोनों को उद्देश्य करके बहुत कहा है -

पूज्य मोटा के समाज संबंधी विचार :

'आज हमारा समाज घोर तमस में पड़ा हुआ है।'

'मैं और मेरा कुटुंब और बस। उस पैसे से अनेक प्रकार की विलासिता हम भोगते हैं। ऐसा मत समझना कि इसकी समाज पर खराब असर नहीं होती है।'

('धर्म और समाज', पृ.)

'गलत गलत रिवाज, मान्यताएँ और उस प्रकार के आंदोलनों से समाज की प्रगति हुई नहीं है।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'जिस समाज ने भील, वाघरी, धाराड़ा, कोली, बारैया आदि कौमों को आगे बढ़ने के लिए मौका ही न रहे, ऐसी व्यवस्था की है, उस समाज को उसके कर्म का बदला आज नहीं तो कल मिलनेवाला ही है।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'संसार में निचले स्तर के मनुष्य उच्च संस्कारी लोगों के साथ जितने अधिक सहवास में आये उतना अच्छा है, जिससे उन्हें सीखना मिले ।' ('धन का योग', पृ.)

'समाज अनेक व्यक्तिओं से बना है । इससे एकदूसरे को एकदूसरे के लिए त्याग करना ही पड़े, तभी समाज ऊपर आयेगा ।' ('मौनएकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'एकदूसरे के लिए एकदूसरे घिसते न हों, तो समाज का संविधान चल नहीं सके ।' ('जन्म-पुनर्जन्म', पृ.)

'यदि भगवान को अनुभव कर सकते हों तो 'समाज' भी भगवान है ।' ('धर्म और समाज', पृ.)

'इस समाज का भी हम पर ऋण है, यदि समाज का काम न करें तो समाज टिक नहीं सकता ।'

('मौनमंदिर में प्राण-प्रतिष्ठा', पृ.)

'देश जीयेगा तो हम जीयेंगे ।'

('मौनमंदिर में प्राण-प्रतिष्ठा', पृ.)

'धर्म का पालन करनेवाला समझे कि यह जो कुछ मेरे पास है, वह मेरे पिता का-अकेले का नहीं है । उसमें सभी का भाग है ।' ('धर्म और समाज', पृ.)

श्रीमोटा का जीवनमंत्र था, *'मुझे समाज को बैठा करना है ।'* समाज को बैठा करने के लिए आपश्री ने व्यक्तिनिर्माण पर खूब ही बल दिया है । साथ ही साथ 'समाज' और 'व्यक्ति' दोनों को ध्यान में रखकर समाजलक्षी शिक्षा विषयक

विचार प्रकट किये हैं । उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा का समाज के लिए गहरा चिंतन सुदर्शित होता है । 'समाज' की ओर दृष्टिपात करते हुए वे चिंतित भाव से बतलाते हैं कि संपूर्ण समाज तमस के प्रभाव में पड़ा हुआ है । चारों तरफ आवेश, बेचैनी, निराशा, गुस्सा, आतंक, वेदना और असहिष्णुता के तत्त्व अधिक से अधिक फैलते जा रहे हैं ।

उनके मत अनुसार गलत गलत रिवाज, मान्यताएँ तथा गलत गलत अंधश्रद्धा के कारण समाज की प्रगति रुक गई है । तो दूसरी तरफ व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में समाज का स्थान कहीं भी दिखता नहीं है । 'मेरा कुटुंब और मैं' वाले स्वकेन्द्रित चिंतन ने समाज को तोड़ दिया है । 'हमें अपना सँभालकर बैठे रहना है ।' अथवा 'मुझे क्या ?'-ऐसी संकुचित और मात्र स्व-अर्थी (स्वार्थी) विचारधारा के विस्तृतीकरण के कारण व्यक्ति में भोगविलास बढ़ते गये हैं । जीवन में भोगविलास की आदत व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वार्थी बनाती है यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है । ऐसी प्रवृत्ति अंतिमवादी बनकर अंत में समाज को मारकर भी व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने को प्रेरित करती होती है । श्रीमोटा चेतावनी देते हुए व्यक्ति को स्वकेन्द्रितता छोड़कर सामाजिक बनने को सूचन करते हैं ।

श्रीमोटा समाज का संविधान समझाते हुए त्याग की महिमा प्रस्तुत करते हैं । व्यक्ति एकदूसरे के लिए घिसेंगे तभी

समाज टिकेगा । जैसे शरीर के सभी अंग एकदूसरे को मददरूप होकर एकदूसरे की रक्षा करते हैं, एकदूसरे को जीवित रखते हैं वैसा यानी कि हाथ मुँह में कौर रखता है, दाँत चबाकर पेट को देता है, पेट पचाकर उसमें से रक्त बनाता है । नाक प्राणवायु देकर रक्त को फेफड़ो द्वारा शुद्ध करता है । हृदय संपूर्ण शरीर को रक्त पहुँचा कर अशुद्ध रक्त वापिस लेता है, हाथ भी इस तरह से रक्त (शक्ति) पाते हैं । यों समाज में रहते सभी व्यक्तिओं को एकदूसरे के विकास के लिए, एकदूसरे के अस्तित्व के लिए त्याग का व्यवहार सीखना पड़ेगा ।

श्रीमोटा समाज को भगवान का स्वरूप मानते हैं । समाज द्वारा ही भगवान की अनुभूति संभव होती है । श्रीमोटा का चिंतन समाज को भूलकर, अन्य देव-देविओं की पूजा को गौण मानते हैं । स्वामी विवेकानंद ने भी वर्षों पहले यही बात समाज के सामने रखी थी ।

''हम कैसे कैसे मिथ्या देवों के पीछे जाते हैं ! और तब भी हमारे आसपास चारोंतरफ जिसके दर्शन होते हैं, उस विराट की हम पूजा नहीं कर सकते ! 'आत्मा' की पूजा पूरी करने के बाद हम दूसरे सभी देवों की पूजा करने को शक्तिमान होगें ।'' ('जीवनकथनी', पृ.) श्रीविवेकानंद की तरह श्रीमोटा भी सच्चे अर्थ में *समाजभक्ति यही प्रभुभक्ति है,* ऐसा बतलाते हैं । वर्तमान युग में समाज के जो जो साधन

व्यक्ति के विकास के लिए उपयोग में आते हैं वैसा भावी पीढ़ी अधिक से अधिक विकास कर सके उसके लिए, वर्तमान समाज में जीवित सभी व्यक्तिओं को समाजविकास के साधन बढ़ाने चाहिए । ऐसे समाजऋण से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह भावी समाज को ऋणी बनाये । यानी कि माँ की गोद में जन्म लेने के बाद व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है, वह सभी का सभी समाज को आभारी है । हवा लेते हैं तो समाज ने उगाये वृक्षों से, पानी पीते हैं तो समाज ने बनाये कुएँ से, शिक्षा लेते हैं तो समाज ने बनायी शाला से । ऐसे कदम कदम पर समाजऋण सिर पर है । श्रीमोटा यह ऋण याद करके समाजलक्षी बनने का बतलाते हैं ।

श्रीमोटा ने व्यक्ति को उद्देश्य करके सामाजिक शिक्षा संबंधी खूब ही वेधक विचार दिये हैं –

'समाज के अज्ञान को किसी भी तरह से समर्थन नहीं देना चाहिए ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'हम समाज और कुटुंब के साथ जुड़े हुए हैं, यानी समाज या कुटुंब की प्रथा अनुसार जो जो रिवाज हैं, उनमें से जो भी सभी ज्ञानपूर्वक समझकर पालन करना है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'जितने प्रमाण में व्यक्ति अपने को पहचानता है और अपनी सेवा करता है, उतने प्रमाण में वह जगत को पहचानता है और जगत की सेवा करता है ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'समाज के रूढ़िबंधनों की ग्रंथि से वैसे वैसे प्रसंग मिले, तब भावना लाने के लिए मुक्त होना है। केवल समाज के रूढ़िबंधनों को तोड़ने के लिए कोई प्रवृत्ति करनी नहीं है। प्रभुकृपा से वैसे प्रसंग मिले तो रूढ़ि के बंधन तोड़ने के लिए हिचकिचाना नहीं या घबराना नहीं।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'हमारे लोग समाज के लिए थोड़ा भी त्याग नहीं करते इतनी हमारी निर्बलता है। इससे देश और लोगों की निर्बलता अपरंपार है।' ('मौनमंदिर में प्राणप्रतिष्ठा', पृ.)

'समाज के किसी भी अंग को दुतकार करके हम कभी आगे नहीं बढ़ सकते हैं।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'जहाँ जहाँ स्वयं जुड़ा हुआ है, जहाँ जहाँ अपने संबंध हैं, जहाँ जहाँ उसकी भावना जाती है, उन सभी के सम्बन्ध में उसका कर्तव्य है।' ('धर्म और समाज', पृ.)

'गरीबों की कोई दया खाना नहीं, दया खानेवाले हम कौन हैं ? वह किसी के पास से दया नहीं माँगता, माँगता है न्याय। वह दे सकते हों तो देना।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'हमें इतना ध्यान में रखना है कि हम जगत के ऋणी हैं, जगत कोई हमारा ऋणी नहीं है।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'समाज के साथ जिसने धर्म सँभाला है, उसे तो देशसेवा की जरूरत नहीं पड़ेगी।'

('धर्म और समाज', पृ.)

'हमारे द्वारा दूसरों को ऊर्ध्व में प्रकट होने का थोड़ा भी हो, वह भी जगत की सेवा ही है ।'

('धन का योग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में समाज के लिए क्या करना है ? व्यक्ति समाज को उपयोगी हो सके, इसके लिए व्यक्ति को क्या क्या ध्यान में रखना है ? समाजविकास के सूचन आदि बातों में श्रीमोटा ने अचूक मार्गदर्शन दिया है । आपश्री आग्रहपूर्वक बतलाते हैं कि किसी भी संयोगों में 'समाज के अज्ञान' को सहारा मत दो । यानी कि समाज के कुरिवाज, समाज की अंधी मान्यताएँ, समाज के अज्ञानी वहम आदि के सामने व्यक्ति को जागृत होकर लड़ना चाहिए । साथ ही साथ केवल समाज के रूढ़िबंधनों को तोड़ने के लिए की जाती प्रवृत्ति की वे उपेक्षा करते हैं । व्यक्ति का कुटुंब और समाज के साथ का बंधन स्वीकार करके समाज के रिवाज ज्ञानपूर्वक समझ समझकर पालन करने को बतलाते हैं । हाँ, आवश्यकता पड़ने पर समाज के हित के लिए अमुक रिवाज तोड़ते भी हिचकिचाना नहीं है वैसा बतलाते हैं ।

समाज की सभी प्रकार की निर्बलताओं के मूल में आपश्री व्यक्ति की भाववृत्ति के अभाव को कारणभूत मानते हैं । भौतिकवादी दुनिया में व्यक्ति अपना जीवन मात्र व्यक्तिगत सुख के पीछे खर्च रही है । श्रीमोटा समाज का लिया हुआ समाज को वापिस देने का समझाते हैं । आपश्री सामाजिक

भावना विकसित करने को कहते हैं । 'आज मुझे जो कुछ मिलता है, वह मुझ अकेले से होता नहीं है । अनेक व्यक्तिओं के सहकार से, मदद से, उनकी सहायता से, उनके साथ के संबंध से यह सब मुझे मिलता है ।' ('धर्म और समाज', पृ.) यानी कि व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है, उसमें समाज का ऋण समाया हुआ है । सरल उदाहरण देते हुए वे समझाते हैं कि कोई व्यक्ति खेती करती है तो हल उसने बनाया है ? नहीं, बीज देनेवाला कोई एक रोजीदार के रूप में काम करनेवाला कोई, जंतुनाशक दवा बनानेवाला कोई एक खेती में पका हुआ अनाज खरीदनेवाला व्यापारी कोई एक या व्यक्ति अकेला कुछ नहीं कर सकता है । समाज है तभी उसका विकास है । व्यक्ति को त्यागवृत्ति विकसित करनी ही रही । स्वार्थीपन संपूर्ण समाज को स्वार्थी बनाता है । यों, समाज के साथ त्याग का धर्म निभाकर समाजऋण से मुक्त होने का आपश्री बतलाते हैं ।

सामाजिक कर्तव्य की विशालता प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए आपश्री समझाते हैं कि व्यक्ति के वृत्त में व्यक्ति जिस जिसके साथ जहाँ जहाँ जुड़ा हुआ है, वहाँ वहाँ उसके कर्तव्य रहे हुए हैं । कुटुंब, गोत्र, ज्ञाति, गाँव, राज्य, राष्ट्र और पूर्ण विश्व तक व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्य फैले हुए हैं । यानी कि सभी क्षेत्र में व्यक्ति को कर्तव्यपालन का धर्म निभाना है । इस प्रकार का कर्तव्यपालन यही एक प्रकार की

देशसेवा है । छोटे से छोटे व्यक्ति को दुतकार बिना, गरीबों पर किसी भी प्रकार की दया का भाव रखे बिना, व्यक्ति को समाज के सभी घटकों को अन्याय न हो उस तरह से जीना है । कहीं भी किसी की भी अवगणना के बिना अधिक से अधिक नम्र होकर सहानुभूतिपूर्वक, प्रेमभाव से आत्मीय व्यवहार करना जरूरी है । आग्रह करते हुए आपश्री कहते हैं, 'यह जो समाज है, वह नारायण का स्वरूप है ।' ('धर्म और समाज', पृ.) यानी कि समाज की नारायण स्वरूप से पूजा करने की है, *'मैं नहीं, तू ही'* के संस्कार मजबूत करने से ही समाजलक्षी अभिगम व्यक्तिमात्र में विकसित होता जायेगा ।

'जगत के हम ऋणी हैं' ऐसा भारपूर्वक समझाते हुए श्रीमोटा बतलाते हैं कि समाज की ओर बेध्यान रहनेवाला समाज अधिक लंबे समय तक टिक नहीं सकता । पहले के समय में समाजऋण अदा करने के संस्कार दैनिक जीवन में बुन लिये जाते थे । उदा. सुबह सूर्य को अर्घ्य देना, वृक्ष को पानी पिलाना, चींटी को आटा डालना, गाय को घास खिलाना, कुत्ते को रोटी खिलाना, गाँव के चबूतरे में पक्षी के लिए दाना डालना आदि आदि । वर्तमान आर्थिक व्यक्ति के ऐसे सामाजिक संस्कार नष्ट हो गये हैं वैसे संयोगों में श्रीमोटा का ऐसा समाजलक्षी शिक्षण प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन में उपयोगी

हो ऐसा है । इसके अलावा समाज को बचानेवाला और जिलानेवाला भी बने ऐसा है ।

शैक्षणिक फिलोसोफी में शिक्षण व्यक्तिलक्षी होना चाहिए या समाजलक्षी–यह प्रश्न हमेशा चर्चा का विषय रहा है । इस प्रश्न का अचूक उत्तर उपरोक्त चर्चा पर से मिल जाता है । समाज आखिर में तो व्यक्तिओं का समूह है । समाज के उत्कर्ष में व्यक्तिओं का उत्कर्ष समा जाता है । समाज की परवाह किये बिना केवल व्यक्ति अपने ही विकास या उत्कर्ष का विचार करे तो वह स्वार्थ के सिवा कुछ भी नहीं है । अभी समाज में व्यक्तिलक्षी विकास पर अधिक भार दिया जा रहा है । परन्तु एक दिन ऐसा आयेगा कि समाज का कुचला हुआ वर्ग जब पूरा जागेगा, तब वह 'वामन' में से विराट स्वरूप धारण करके, स्वार्थी व्यक्तिओं का कचरघान निकालेंगे । शिक्षा का हेतु समाजलक्षी शिक्षण द्वारा व्यक्तिलक्षी शिक्षण का होना चाहिए । क्योंकि व्यक्ति यह समाज का अविभाज्य, छोटे से छोटा तब भी महत्त्वपूर्ण अंग है ।

व्यक्तिगत जीवन में परमात्मा का साक्षात्कार होने के बाद हिमालय में या व्यक्तिगत मोक्ष के लिए की निज–स्वार्थ वृत्ति में गये बिना समाज में रहकर समाज के उत्थान का कार्य आजीवन करनेवाले श्रीमोटा 'समाजनिर्माता' भी थे । इस चर्चा से फलित होता है कि 'समाजलक्षी शिक्षा' विषय में श्रीमोटा का चिंतन बहुत सरल और प्रभावपूर्वक है । आँखों

में समाजउत्थान के स्वप्न के साथ यों 'समाज' को भगवान के रूप में श्रीमोटा ने स्वीकार किया था । वर्तमानयुग में जब समाजजीवन अस्तव्यस्त हो रहा है, तब श्रीमोटा के सामाजिक शिक्षा के विचार 'एकमात्र आशा-किरण' के रूप में प्रकाश डालते हैं । मानवी के व्यक्तिगत जीवन का स्वीकार करके उसके सामाजिक जीवन का भी स्वीकार करने का वे बतलाते हैं । परिवार, पड़ोस, गाँव, प्रदेश और देश- ये व्यक्ति के सामाजिक जीवन के एक पर एक ऐसे सोपान हैं । श्रीमोटा के चिंतन से फलित होता है कि व्यक्तिगत जीवन उसके सामाजिक जीवन से स्वतंत्र हो ही नहीं सके ।

समाजधर्म का पालन करनेवाला देशसेवा ही कर रहा है वैसा वे समझाते हैं । भारत की वर्तमान परिस्थिति में जब देश में क्षुद्र राजनीति, प्रांतवाद, भाषावाद, सांप्रदायिकता, दहेज, स्वकेन्द्रि भ्रष्टाचार आदि दूषण अधिक सक्रिय हैं, तब सामाजिक विकास के लिए श्रीमोटा के सामाजिक शिक्षा अर्पित करते विचारों का फैलाव समाज और देश को बचाने में मददरूप हो वैसा है ।

इसप्रकार श्रीमोटा की शिक्षालक्षी स्वकेन्द्रित भावना का परिवार भावना में, उसके बाद क्रमशः गाँव, नगर, समाज, देश और राष्ट्र और उसके बाद विश्व तक भावना का विस्तार करके *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* की समझ विकसित करनी है ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१०. गुणलक्षी शिक्षा

व्यक्ति की पहचान वाणी, वर्तन, विचार, स्वभाव और व्यवहार द्वारा होती रहती है । व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्शन उसकी विशिष्ट पहचान से होती है । व्यक्तित्व के पीछे संस्कार कारणभूत हैं और सभी प्रकार के संस्कार का सिंचन विविध गुणों द्वारा निर्मित होता रहता है । यानी कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए गुणों का प्रकटीकरण और संवर्धन होना जरूरी है । श्रीमोटा तो कहते हैं कि, *'गुण में जीवन रहा हुआ है ।'* ('जीवनसंशोधन', पृ.) यानी कि जीवनविकास के लिए जीवन की पूर्णता के लिए गुणों का विस्तार बढ़ाना आवश्यक है । गुण यही व्यक्ति का तेज है, गुण के प्रदेश में ही आत्मा विकसित होती है । अरे ! भगवान भी गुण की ही कदर करते हैं ।

'बुद्धि के मंदिर में राम बस सके न वे कभी,
गुण भाव का मंदिर रचते हुए बसेगा हरि ।'

('जिज्ञासा', पृ.)

केवल बुद्धि की वेधकता या तर्क की तीव्रता से व्यक्ति सर्वस्वीकृत नहीं होता हैं । गुणों के प्रभावकारी व्यवहार से ही व्यक्ति कुटुंब या समाज में सर्वस्वीकृति प्राप्त कर सकता है । व्यक्ति की स्वीकृति के पीछे जो भी व्यक्ति का जीवन

भी स्वीकृत बनता होता है । इस प्रकार जीवन का जीनापन गुणों में समाया हुआ है ।

वर्तमान शिक्षा व्यक्ति को वह किस तरह से रोटी कमा ले यह बात ही सीखाती है और यह हेतु भी पूरा कहाँ संतोष होता है ? पढ़े बेरोजगारों की संख्या देखें तो ख्याल आये कि आज का शिक्षण, स्नातक होने के बाद आजीविका के लिए व्यक्ति के पास से क्या क्या नहीं करवाता है ? सभी तरह का भ्रष्टाचार नौकरी पाने के लिए करना पड़ता है । समाज की यह बड़ी कमनसीबी नहीं है ? **प्रवर्तमान शिक्षण को मात्र रोजगार और पेट के साथ संबंधित करके शिक्षा की विशालता को वामन बना दिया है । ऐसी मात्र 'पेट' केन्द्रित रोजगारलक्षी शिक्षा के परिणाम से व्यक्ति व्यवहारवादी बनता है, व्यवहारवादी में से फायदावादी और फायदावादी में से अंत में केवल स्वार्थी बन जाता है । यों वर्तमान शिक्षा वैयक्तिक और सामाजिक मूल्य सँभालने में अधूरी साबित हुई है ।** मूल्यों के ह्रास के कारण व्यक्तिगत जीवन और समाजजीवन दोनों टूटते जाते हैं । चारित्र्यवान, सुशील, नि:स्वार्थी और गुणशील व्यक्तिओं की कमी जितनी आज लगती है, उतनी शायद कभी नहीं हुई होगी, ऐसा अवश्य कह सकते हैं ।

मनुष्य में मानवता का निर्माण करना, वह गुणवान बने यही शिक्षा का मुख्य उद्देश हो सकता है । मानवी में चैतन्य का आविर्भाव हो, मानवी सच्चे अर्थ में मानवी बने

उस दिशा में शिक्षा की गति होनी आवश्यक है । अलबत्ता, ऐसी शिक्षा का कार्य यानी कि 'व्यक्तिनिर्माण' का कार्य मात्र शाला-महाशालाओं के कमरों में नहीं हो सकता है । कबीर, रामकृष्ण परमहंस, गंगासती, रूसो, डोंगरेजी महाराज या नारायण देसाई आदि महान पुरुष कितना पढ़े थे ? तब भी जीवन में उच्च सिद्धियाँ प्राप्त की, समाजउत्थान के लिए ध्रुवतारक बने । समाजनिर्माण करनेवाले महान पुरूषों के जीवन में देखें तो ऐसा लगता है कि उन्होंने युनिवर्सिटी की महान पदविओं की अपेक्षा 'गुण साधने' की उनकी व्यक्तिगत साधना ही उनको उच्च कक्षा पर ले गई होती है । शिक्षा यह एक प्रकार का कदम कदम पर होती बौद्धिक साधना है, जो व्यक्ति के जीवन में सात्त्विक गुणों का निर्माण करती है ।

श्रीमोटा ने भी व्यक्ति की पूर्णता प्रकट करने 'गुणलक्षी निर्माण' पर ध्यान दिया है । आपश्री का प्रत्येक चिंतन अनुभव से गुजरा हुआ होने से अधिक व्यवहारु बना है । आपश्री मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन में गुणों की रचना जितनी मजबूत उतना स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया अधिक गतिशील होती है । यह स्वभावपरिवर्तन अंत में जीवन में परिवर्तन लाता है । चिंतन, वर्तन, वाणी या व्यवहार में, मन या हृदय में गुण के प्रति सतत जागृत रहकर, गुणवान बन सकते हैं, यह उनका 'जीवनदर्शन' है ।

आपश्री की शिक्षालक्षी दृष्टि बतलाती है कि संसार में जो कुछ संघर्ष और अकारण टकराहट दिखती है, वह सत्त्वगुण

का अभाव प्रदर्शित करती है । आपश्री के अनुभवदर्शन अनुसार संतोष, नम्रता, विवेक, धैर्य, साहस, संयम, प्रसन्नता, त्याग, सहिष्णुता, सद्‌भाव जैसे सत्त्वगुणों के स्थान पर असंतोष, उद्दंडता, उद्धताई, कायरता, अहंकार, प्रमाद, पामरता, उद्वेग, स्वार्थीपन, संकुचितता, हिंसा जैसे आसुरी गुणों ने स्थान अधिक मजबूत किया है । इससे व्यक्ति में रहा हुआ परमात्मा का अंश अर्थात् 'आत्मा' की आवाज दब गई है । परमात्मा के पास से मन, बुद्धि, वाणी और समझ प्राप्त करनेवाला मानवी गुणवान हो तभी वह प्राणीमात्र से अलग है ऐसा प्रस्थापित हो सकता है ।

व्यक्ति गुणवान बनेगा तभी समाज गुणवान बनेगा, समाज गुणवान बनेगा तभी नयी पीढ़ी गुणवान बनेगी । श्रीमोटा बतलाते हैं कि गुणों में जीवन रहा हुआ है । जीवन की शोभा गुणों के कारण है । गुणशक्ति द्वारा ही व्यक्ति और परमात्मा का पावन मिलन संभव होता है । ऐसी गुणलक्षी शिक्षा कि जो वर्तमान शिक्षणजगत को शोभित करे वैसी है, उस बारे में श्रीमोटा के विचार निम्न अनुसार हैं –

'जिसे जीवन का विकास साधना है, ऐसे *जीव* को शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता, सहनशीलता, सहिष्णुता, उदारता, मानसिक विशालता, धीरज, सभी के सद्‌गुण परखने की कदरदानी, दूसरों को अत्यधिक हृदय की परवाह करने की भावना आदि गुण विकसित कर करके

जीवन में जीवित करना रहता है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'हमारे में हमें गुण और अवगुण दोनों का जो दर्शन होता है, उसमें गुण को सात्त्विकता विकसित करने कदरभाव से हमें नीरखना ही रहा ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'जीवनविकास के लिए मिले हुए स्वजनों के जीवन के शौर्य, हिंमत, साहस, धीरज, बलिदान, त्याग, समर्पण ऐसे ऐसे गुण के त्रिवेणीसंगम के प्रसंगदर्शन की अनेक परंपराएँ और उसमें से जीवनविकास की संभावनाएँ प्राप्त हो सकती हैं ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'हिंमत और साहस तो लूटेरे में भी होते हैं । ऐसे का जीवनविकास नहीं होगा । इससे मैं गुण और भावना के विकास पर हमेशा भार देता हूँ ।'

('श्रीमोटा के साथ साथ', पृ.)

'हमारे में रहे हुए और व्याप्त रहे हुए गुणों के नौकर के रूप में हमें चलना नहीं है । फिर भले सामान्य व्यक्ति ऐसे चलता हो । हमें तो उन गुणों को (नौकर रूप में) अपने कहे में रखना है । इतना ही नहीं, पर उन गुणों की ही मदद से उनके रचनात्मक उपयोग से एकदूसरे पर सवाया हुआ करना है । रजस का हम में प्राधान्य हो तो तमस की मदद से उसे शांत करना है ।' ('जीवनआरंभ', पृ.)

'यदि कहीं कुछ धिक्कारना हो तो वह आलस्य, प्रमाद,

बेदरकारी आदि **जीव** प्रकार की वृत्तिओं को धिक्कारना है ।'
('जीवनपुकार', पृ.)

'जीवन यह गुणों का कोई मात्र समूह नहीं है । गुणों में जीवन रहा हुआ है यह बात सच है । सद्‌गुण से जीवन शोभित होता है यह भी सत्य है । परन्तु जीवन की सच्ची वास्तविकता को उसकी मर्यादा केवल गुण के वृत्त में बंद नहीं रह सकती है, वह उससे पर है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा 'गुणवान' बनने के लिए गुणवान जीवन का महत्त्व समझाते हैं । प्रत्येक व्यक्ति में छाया-परछाईं की तरह गुण-अवगुण का जोड़ा होता है ही । यह गुण-अवगुण की अभिव्यक्ति जीवनव्यवहार में दिखती है, जो सहज हे । तब भी हम में सात्त्विक गुणों का संवर्धन अधिक गतिशील या क्रियाशील हो, उस तरह से विविध गुणों का लक्षणदर्शन करना है । श्रीमोटा समझाते हैं कि शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता, सहनशीलता, परमसहिष्णुता, उदारता, धीरज, मानसिक विशालता, हिंमत, शौर्य, त्याग, समर्पण आदि गुण जीवनविकास के लिए व्यक्तिगत जीवन में बुन जाने चाहिए । यानी कि श्वासोच्छ्‌वास में गुण समा जाने चाहिए । प्रत्येक गुण में 'प्राण' से प्रवेश करने का आग्रह करते हुए आपश्री सूचित करते हैं कि 'गुणों को जीवन में अपनाओ । उसका मनन, चिंतन हो, प्राण से गुणों में हमें प्रवेश करना है, जो हम में स्थिर टिके और अखंडतावाले हो

ऐसा कुछ करो ।' ('अग्रता-एकाग्रता', पृ.) जिससे जीवन में नवसर्जन की संभावना मजबूत बने ।

ताड़ के वृक्ष में भी ऊँचे बनने का गुण होता है । पर छाँया कहाँ होती है ? विशालता का गुण समुद्र के पास है पर मिठास कहाँ ? ऐसे हिंमत और साहस तो चोर लूटेंरे में भी होते हैं पर गुण की सात्त्विक भावना कहाँ ? इसलिए ही श्रीमोटा के चिंतन अनुसार विविध गुणों की जीवनसंगत सभानतापूर्वक की भावनालक्षी होनी चाहिए, श्रीमोटा मात्र गुण-ग्राह्यता की बात नहीं करते । गुणग्राह्यता के साथ साथ भावना का रसायण भी मिश्रित होना चाहिए तभी चित्त के, हृदय के संस्कार अंकुरित होंगे । ऐसा गुणभावना का लग्न निर्माण करने के लिए व्यक्ति का गुण पर संपूर्ण अंकुश होना चाहिए । गुण के कहे में व्यक्ति बह जाय वह ठीक नहीं है । गुण अंकुशितता ही गुण का रचनात्मक और भावनात्मक उपयोग संभव बनायेगा । इसप्रकार, उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा गुणप्रधान शिक्षा के प्रति व्यक्ति को अभिमुख करते हैं ।

इसके अलावा श्रीमोटा ने संयम, विवेक, नम्रता, जागृति, तमन्ना, जोश, जिज्ञासा, आत्मविश्वास, श्रद्धा, एकाग्रता, पुरुषार्थ, नियमितता, तटस्थता, समर्पण, सहिष्णुता, सद्‌भाव, जैसे अनेकविध गुणों की पूर्ण समझ और उसे विकसित करने की पद्धति की समझ दी है जो नीचे अनुसार है -

(१) संयम और विवेक प्रति श्रीमोटा का चिंतन

'संयम यानी जीवन में आचरित भावों की सीमा, संयम

यानी अपने जीवन की रक्षा करने के लिए आयोजित जीवंत भावनात्मक आचार की दीवार ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'संयम अंतर की शक्ति को प्रकट करने में बहुत बड़ा भाग निभाता है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'जो संयमी जीवन जगत के प्रति कठोर कर देता है, वैसा संयम यथार्थ नहीं है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'संयम में कहीं भी शुष्कता नहीं है, कठोरता भी नहीं है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'सच्चे ज्ञान का एक मुख्य लक्षण विवेक है । विवेक न हो, वहाँ ज्ञान संभव ही नहीं है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'इन्द्रियाँ निरासक्त होने लगे, तब ही हमें सच्ची विवेकशक्ति मिलती है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'हमारी इस आँख से भी विवेक की आँख बहुत सूक्ष्म है ।' ('अग्रता-एकग्रता', पृ.)

'जीवननिर्माण के लिए विवेक काम आता है ।'
('जिज्ञासा', पृ.)

'विवेक की भूमिका तो तटस्थता, समता आदि भावों के साथ रही हुई है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'विवेक अर्थात् सम्यक् दर्शन करनेवाली दृष्टि, योग्य भाव रखानेवाला हृदय, योग्य कर्म सुझानेवाली सद्‌बुद्धि ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'विवेक बिना का भाव हानिकारक है ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'कहाँ, कितना, क्या और कैसे बोलना उसका सूक्ष्म विवेक आना चाहिए ।' ('जीवनपराग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में संयम और विवेक की पूर्ण समझ स्पष्ट होती है । जीवनविकास के लिए गुणों का सेवन करते समय संयम और विवेक भी अति उपयोगी है, इसका ख्याल रहना आवश्यक है । श्रीमोटा संयम की सरल समझ देते हुए समझाते हैं कि **संयम अर्थात् स्व के लिए स्व द्वारा बंधी सीमा (मर्यादा) है ।** आत्मानुशासन के लिए संयम एक प्रकार की आचारसंहिता है । भावना के साथ सभानतापूर्वक विकसित हुआ संयम जीवनरक्षण के लिए खूब ही उपयोगी बनता है । वाणी, वर्तन, व्यवहार, आचार या प्रतिचार जीवनव्यवहार की इन सभी प्रवृत्तिओं में संयम का आभूषण जुड़े तो सद्प्रवृत्तियाँ बन जाय । यानी कि जीवन में कदम कदम पर संयम का साथ विकसित करना जरूरी है । संयम की उँगली पकड़कर चलनेवाले व्यक्ति में अंतर का प्रकाश स्वयंभू प्रकट होता है, जो व्यक्ति के वर्तन को सुसंस्कारी बनाता है ।

संक्षेप में, संयम अर्थात् अपने जीवन की पूर्ण रक्षा करने के लिए आयोजित आचार की दीवार । संयम में अपने आपके प्रति कठोर से कठोर हो सकते हैं । परन्तु इसके साथ साथ ऐसी दीवार किसी भी **जीव** के सम्बन्ध में तिरस्कार या अवगणना करनेवाली नहीं होगी । सच्चा संयम अंतर में समाया रहता है । इसके साथ साथ वहाँ रहकर अंतर

से बल प्रकट करके जीवन के प्रति विचार की चौकी भी वह करता है ।

संयम की तरह विवेक यह भी गुणगण में नेतृत्वलक्षी गुण है । विवेक आने पर अनेक गुण अपनेआप आ जाते हैं । श्रीमोटा ने विवेक के संबंध में जो समझ दी है, वह अत्यन्त वेधक और सर्वस्वीकृत है । श्रीमोटा सच्चे ज्ञान का लक्षण बताकर उसे एक शक्ति के रूप में विकसित करने का बतलाते हैं । व्यक्ति कितना भी विकसित हो, पढ़ा हुआ हो, अच्छा कमाता होगा पर उसमें विवेकशून्यता होगी तो उसकी सभी सिद्धियाँ निरर्थक होंगी, वैसे व्यक्ति की गणना मात्र दो पैरवाले प्राणी के समान होगी । आपश्री विवेक को अंतर की आँख कहते हैं । जो जगत में सम्यक् दर्शन करवा सके । हृदयस्थ हुआ विवेक योग्य भाव पैदा करता है और विवेक बुद्धि योग्य कर्म सुझाता है । आपश्री के चिंतन अनुसार विवेक बिना का भाव, विवेक बिना की बुद्धि, विवेक बिना का ज्ञान या विवेक बिना की दृष्टि यह सभी अचेतन है ।

विवेक के वस्त्र शिक्षा को कांचन बनाते हैं यानी कि **विवेक की शिक्षा बिना का शिक्षण अधूरा है ।** विवेकदृष्टि ही भय, कुरूप या अरुचिकर दिखावे से उत्पन्न होती घृणा से बचाता है । विवेकी और शिक्षित व्यक्ति ही अच्छा खराब का अचूक भान रखता है । विवेक से ही व्यक्ति समझ सकता है कि खाद भले गंध मारती हो, तब भी सृष्टि में उसका खास स्थान है और खास उपयोग भी है । जीवन के ऊर्ध्व विकास

के लिए कमल के साथ कीचड़ या गुलाब के साथ काँटों का स्वीकार करनेवाली सम्यक्दृष्टि के सर्जन के लिए विवेक की शिक्षा अनिवार्य है ।

नम्रता के बारे में श्रीमोटा बतलाते हैं –

'जीवन के सभी क्षेत्र में सच्चा व्यवहारकौशल्य पाने के लिए नम्रता का गुण विकसित करना बहुत जरूरी है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'नम्रता आत्मा का एक गुण गिन सकते हैं ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'नम्रता अर्थात् स्वयं कुछ भी नहीं, एक मात्र भगवान ही सब कुछ है ऐसी निष्ठापूर्वक की ज्ञानयुक्त भावना ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'नम्रता से तो तेजस्विता, शौर्य, पराक्रम, बल, हिंमत, साहस आदि गुण प्रकट होते हैं । नम्रता अर्थात् कायरपन नहीं ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'सच्ची नम्रता यह तो सात्त्विक, शूरवीर और पराक्रमी जीवन का मुख्य लक्षण है ।'

('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

'नम्रता प्रकट हुए बिना सद्भाव और समत्व प्रकट नहीं हो सकते हैं ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'किसी का भी दिल जीतना वह संपूर्ण नम्रता प्रकट हुए बिना नहीं हो सकता है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'जिसमें लेशमात्र भी अहंता या अभिमान नहीं रहा है, उसे ही नम्रता मिलती है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'नम्रता ऐसे ही नहीं विकसित हो जाती है । जीवन में से अनेक प्रकार की समझ, मान्यताएँ और आग्रह आदि के सम्बन्ध का जोश कम हुए बिना सच्ची नम्रता प्रकट हुई नहीं जानी है ।' ('जीवनदर्शन', पृ.)

विवेकशक्ति का बाह्यप्रकटीकरण अर्थात् नम्रता । विवेक का दार्शनिक स्वरूप अर्थात् नम्रता । श्रीमोटा ने अहंकार की भावना निर्मूल करने के लिए नम्रता विकसित करने को बतलाया है । इसीसे उसे आत्मा का गुण कहा है । अहंकारी या अभिमानी व्यक्ति को नम्रता कभी भी नहीं मिलती है । 'शून्यता यह नम्रता का अंतिम माप है । शून्यता यानी संपूर्ण रूप से लय ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'नम्रता में नम्र और धूल से भी धूल हैं ऐसा निश्चिय प्रकट हुए बिना और वैसे हम बने बिना कुछ भी हम कभी नहीं कर सकेंगे ।' ('जीवनपराग', पृ.)

नम्रता की समझ देते हुए श्रीमोटा समझाते हैं कि सच्ची नम्रता में शौर्य, पराक्रम, हिंमत, पुरुषार्थ और साहस के बीज छिपे हुए हैं । यानी कि नम्रता कभी निर्बल नहीं हो सकती है । 'सचमुच, यथार्थ और उच्च से उच्च भावना की प्रकट हुई नम्रता में स्वयं चाहा हुआ सब कर सकने के पुरुषार्थ की संपूर्ण शक्ति रही हुई है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'नम्रता तो जीवन की खुमारी प्रकट करती है, वह कोई भेड़ जैसी नहीं है । उसमें तो अग्नि का प्रचंड तेज समाया हुआ है । ज्ञानभक्तिपूर्वक धारण की हुई नम्रता स्वयं ही तेजस्वितापन में प्रकट होती है ।' ('जीवनपराग', पृ.) नम्रता के तेज प्रकाश में सद्‌भावना और समत्व प्रकट हो सकते हैं और 'मैं' पन निर्मूल होकर वह पुरुषार्थ का पथ पकड़ता है । यों, पुरुषार्थ की चरम सीमा और 'मैं'पन की निर्मूलता नम्रता की नवसंस्कारिता प्रज्ज्वलित करती है । उसके तेज से अनेक प्रकार की उलझन, मान्यताएँ, आदत, आग्रह, धारणाएँ, पूर्वाग्रह आदि से मुक्ति मिलती है । व्यक्ति नम्रता के साथ से अबोझ बनकर जीवन का हलकापन अनुभव करता है ।

उपरोक्त गुणों का विवेचन करने के बाद वर्तमान परिस्थित देखी जाय तो श्रीमोटा ने जिस तरह से इन गुणों को समझाने, व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है वैसे गुण गुणयुक्त व्यक्ति, दीपक लेकर खोजने जाय तब भी नहीं मिलेगा । संसारी **जीव** की बात एक तरफ रखें और आश्रम चलाते संतों के जीवन की तरफ दृष्टि करें तो घोर निराशा प्राप्त होगी वैसी स्थिति है । नम्रता के बदले अहंकार में रचेपचे रहनेवाले, संसारी **जीव** से भी भोगविलास के वैभव में अधिक रचे रहनेवाले अधिकतर लोग देखने को मिलते हैं । इन संयोगों में शिक्षणक्षेत्र में क्या करें ? शिक्षणक्षेत्र समाज से अलिप्त नहीं है और इससे समाज में जो कुछ देखने को

मिले, उसका ही प्रतिबिंब शाला-महाशालाएँ, विश्वविद्यालयों में देखने को मिले ।

अभी कैसी भी बदतर परिस्थिति हो, परन्तु देश को आगे लाने के लिए, समाज को आगे लाने के लिए श्रीमोटा कथित गुण ही व्यक्तिओं को विकसित तो करने पड़ेंगे ही, छुटकारा ही नहीं । और इसके लिए व्यक्ति स्वयं, अपने आपको सुधारने के लिए सजाग प्रयत्न करेगा, तो व्यक्ति सुधरेगा, इस तरह से अनेक व्यक्ति, स्वप्रयत्न से सुधरेंगे और उसकी असर समाज में दिखेगी और शिक्षणक्षेत्र में विद्यार्थिओं में दिखेगी । आज 'मूल्यों का शिक्षण' पर बहुत ही भार दिया जाता है । शिक्षण की नयी नीति में (सन १९८६ में) उस पर भार देने के बाद, सरकार ने कितना ही खर्च करके, सेमिनार, परिषद, चर्चा आयोजन की, परन्तु इससे कोई सत्त्व आया हो वैसा दिखता नहीं है । उलटा उसमें से खायकी कितनी हुई वह खोजने जैसा सही ! 'Values or virtues can never be taught, they are to be caught' और इसके लिए शिक्षण के साथ जुड़े व्यक्तिओं में प्रथम उन गुणों का आविष्कार होना जरूरी है ।

अधिकतर चित्र निराशाजनक होने पर भी निराश होने की जरूरत नहीं है । आज भी अमुक व्यक्ति स्वयं किसी प्रकार की विज्ञापन किये बिना निष्ठापूर्वक काम करके अपने विवेकी व्यवहार द्वारा विद्यार्थिओं के दिल जीत लेते हैं । प्रश्न

है केवल संख्या का, ऐसे व्यक्ति अल्प प्रमाण में हैं । परन्तु 'हैं' यह हकीकत आशास्पद है ।

(२) तमन्ना-उत्साह-जागृति-जिज्ञासा

'लता स्वयं उगेगी तो चढ़ने का तो उसे मिल ही जायेगा ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'मरजिया निश्चय दृढ़ पुरुषार्थ से होता है, फिर क्या संभव कुछ नहीं है ?' ('जीवनस्मरणसाधना', पृ.)

'प्रथम तो दोषों का, दुर्गुणों का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए । परन्तु वह भी पर्याप्त नहीं है । उसे हटाने के लिए हमारा दृढ़ निर्धार जाग जाना चाहिए ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'जो निश्चय करें उससे पहले मन में मन से समझ लेना है कि वह ऐसे या वैसे टूट जाय तो वह चलने नहीं देना है । पर किसी भी तरह उसका पालन करना ही है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'जहाँ तक ध्येय को पहुँच नहीं जाते, वहाँ तक आराम से न बैठें ऐसी मन की स्थिति, वृत्ति, भाव और आतुरता रहने चाहिए ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.)

'जिस **जीव** को (कुछ) जानना है, उसे स्वयं उस जाननेपन की अदम्य और दहकती तमन्ना प्रकट करनी चाहिए ।'

('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

'जोश प्रकट होगा तभी उत्साह, सावधानी, धीरज उसके साथ-साथ होते हैं ।' ('धन का योग', पृ.)

'दृढ़ अडिग निर्धार हो हिमालय के समान,
वैसों को पूछने कुछ जाना न पड़ता कहीं ।'

('कर्मउपासना', पृ.)

'जो निश्चिय करें उसे मृत्यु तक लगे रहे ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'हमारा कोई जीताजागता चौकीदार हो तो वह हमारी ऊर्ध्वगामी होने की जागी हुई तमन्ना है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में तमन्ना, जोश और निश्चय को समानलक्षी रूप में एक साथ लिये गये हैं । इनमें श्रीमोटा तमन्ना की तीव्रता विकसित करने को बतलाते हैं । जिसके दिल में अदम्य और धधकती तमन्ना जागी होगी, वह व्यक्ति इच्छित ध्येय सरलता से प्राप्त कर सकता है । तमन्ना बिना का जीवन नीरस होता है । इससे जीवन में तनदिही, उत्साह, आतुरता आदि के अभाव को दूर करने के लिए तमन्ना को विकसित करना आवश्यक है । तमन्ना जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने में सतत जागृत करती है । इससे श्रीमोटा तमन्ना को जीताजागता चौकीदार कहते हैं ।

तमन्ना के साथ साथ मरजिया दृढ़ निश्चय जुड़े, तब तो जीवन एकदम क्रियाशील हो जाता है । श्रीमोटा तमन्ना के साथ हिमालय जैसा अडिग निर्धार विकसित करने को सूचित करते हैं । विचारपूर्वक स्वस्थ चित्त से किया हुआ दृढ़ निर्धार

आजीवन टिकना जरूरी है । ध्येय की दृढ़ता जीवन में अनेक प्रकार की अच्छी आदतों का निर्माण करती है । धधकती तमन्ना विकसित करने के बाद किया हुआ दृढ़ निर्धार, ध्येय सिद्धि हासिल करे इसके लिए जोश भी उतना ही जरूरी है । जोश का अभाव निर्धार में विक्षेप डाल सकता है अथवा तमन्ना की आतुरता मिटा सकता है । श्रीमोटा जोश को एक गतिशील गुण के रूप में विकसित करने का सूचित करते हैं । जो व्यक्ति जोश के अधीन होगा उसमें अधीराई, आतुरता, उमंग, उत्साह और पुरुषार्थ अपने आप जन्म लेते हैं । जोश एक ऐसा गुण है, जिसके कारण अंधकार या आलस्य में फँसा **जीव** अपने आप नवीन चेतना प्राप्त करके पुनः ध्येयपथ पर चलने लगता है । जीवननिर्माण के लिए जोश, तमन्ना और दृढ़ निर्धार विकसित करने जैसे गुण हैं ।

'जागता है वही जीवित रहता है' सूत्र यह रखकर
जीवित जीयोगे पाओगे तो तो सत्य नित्य नया नया ।

('अभ्यासी को', पृ.)

'जैसी जिसकी जागृति उतना और वैसा काम करना है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा 'जागृति' की सभानता समझाते हैं । 'सावधान नर सदा सुखी ।' इस तरह श्रीमोटा समझाते हैं कि जो जागता है वही अच्छी तरह जीवित रहता है । **जागृति का अभाव यह तो मृत्यु है । जीवन के किसी**

भी क्षेत्र की साधना का केन्द्रस्थान अथवा चालकबल हो तो वह जागृत अवस्था में है । श्रीमोटा ने जागृति को साधना का हृदय गिना है । जागृति का सरल अर्थ समझाने के लिए श्रीमोटा कहते हैं कि जागृति अर्थात् एक प्रकार की चेतनायुक्त खबरदारी । ऐसी खबरदारी का ऐक्य बना रहेगा तो उसमें से ही हिंमत, धीरज, पुरुषार्थ, अभिरुचि, जिज्ञासा आदि गुणों का निर्माण होगा । 'जीवनआदर्श अनुसार के दृष्टि, वृत्ति और भाव जो **जीव** जीवन में जागृत प्रसंगों में जीवित रख सकता है, उसे अंतर में से हिंमत, धीरज, सहानुभूति, प्रेम आदि मिलने पर वह अनुभव कर सकता है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'एक मात्र अकेली जागृति पीडाकारक होती है । जागृति के साथ साथ ध्येयप्राप्ति के प्रति का प्रयत्न और पुरुषार्थ होगा तो ही सच्चा जीवनविकास हो सकता है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'जिज्ञासा बाँझ नहीं है, जन्माती है नया नया,
ज्ञानप्रकाश डालती है, नये नये विषय पर गहरा ।'

('जिज्ञासा', पृ.)

'जैसी जिज्ञासा हो कि हमें उसे पकड़ लेनी चाहिए ।

('जीवनआरंभ', पृ.)

आम में रस होता ही है, किन्तु उसे पकाने के लिए कुछ करना पड़ता है । जिज्ञासा को पकाने के लिए मेहनत करनी ही पड़ेगी ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'मंथन कराके जिज्ञासा तो कराती है गहरा चिंतन,'
चिंतन क्या जगाकर रखाकर नित्य जागृत ।'

('जिज्ञासा', पृ.)

'जिज्ञासा माने न कठिनाई, विघ्न समस्या
उलटा वह बढ़ाती है, उत्साह, शक्ति, प्रेरणा ।'

('जिज्ञासा', पृ.)

'यदि हमारी जिज्ञासा, तमन्ना प्रकट हुई होगी तो सच्ची समझ आये बिना रहनेवाली नहीं है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'जिज्ञासा होनी यह एक बात है और उसमें भाव जन्म ले यह दूसरी बात है । और वह भाव कर्म में अवतरित होना यह फिर अलग बात है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'हमारी जिज्ञासा पक्की होगी, तब भगवान स्वयं अपने बंदे को हमारे पासे भेजेंगे ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

जिज्ञासा संबंधी श्रीमोटा का चिंतन बहुत ही गहरा, सूक्ष्म और विशिष्ट है । जिज्ञासा का गूढ़ अर्थ, जिज्ञासा का सूक्ष्म भाव, उसके लक्षण, साधना के लिए इसका खास महत्त्व, जिज्ञासा की कार्यपद्धति, जिज्ञासा का रूप वैविध्य आदि अनेक दृष्टिकोण से श्रीमोटा ने 'जिज्ञासा का शास्त्र' रचा है । १० खंडों में विभाजित, ६४ अध्यायों में २१०० श्लोक रचकर श्रीमोटा ने जिज्ञासा का शास्त्र समाज को भेंट दिया है । यहाँ गुणलक्षी शिक्षा के संदर्भ में एक गुण के रूप

में जिज्ञासा को लिया होने से मर्यादित संदर्भों का ही यहाँ उल्लेख किया है ।

'जिज्ञासा' संबंधी श्रीमोटा का चिंतन प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेरणादायी बने ऐसा है । जो जिज्ञासु नहीं है, उसका जन्म निरर्थक है । मन और हृदय की संवेदना या आश्चर्यता प्रश्न स्वरूप में प्रकट हो तो वह जिज्ञासा कहलायेगी । इसलिए हृदय और मन जिज्ञासा के जन्मस्थान हैं । मन और हृदयप्रदेश में कुतूहलवश खड़े हुए ज्ञानात्मक प्रश्नों का समाधान जिज्ञासावृत्ति में है । यानी कि जिज्ञासा बिना सच्ची समझ संभव नहीं हो सकती, जिज्ञासा का गुण विकसित करने का आग्रह करते श्रीमोटा जिज्ञासा को एकदम पकड़ लेने को कहते हैं । जिज्ञासा को पकड़ने के बाद मेहनत के तखत पर उसे पकड़ने का कहते हैं । क्योंकि जीवन में नया नया जो कुछ अनुभव हो या दिखे, उस प्रत्येक में ज्ञानप्रकाश उड़ेलने का कार्य जिज्ञासा करती है । जिज्ञासा भजनेवाला व्यक्ति चिंतनशील होकर सतत जागृति अनुभव करता होता है । यानी कि जिज्ञासा के माध्यम से व्यक्ति में चिंतन, जागृति और सच्ची समझ अपने आप विकसित होती है । इसीसे जिज्ञासा को व्यक्ति की सच्ची 'आँख' कही है ।

संक्षेप में, सत्संग, गुरुकृपा, गुरुउपदेश जैसी दुर्लभ-वस्तुएँ या तत्त्व मिलने के बाद स्वविकास के लिए आत्म-प्रयत्न अनिवार्य है । **यह आत्मप्रयत्न यानी व्यक्ति की**

जिज्ञासा वृत्ति को विशालता, यानी कि जिज्ञासा के सांनिध्य द्वारा ही शिक्षा की सही शुरूआत संभव होती है ।

शिक्षणपद्धतिओं में आज 'स्व-अध्ययन' पद्धति का उपयोग करना अति आवश्यक हो पड़ा है । माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक शालाओं के एक एक वर्ग में ५० से ६५ विद्यार्थिओं की संख्या होती है । शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान न दे सके यह स्वभाविक है । वह सामान्य विद्यार्थी को लक्ष में रखकर शिक्षणकार्य करता है । जिससे ऊपर की कक्षा के विद्यार्थिओं को इसमें रस नहीं आता, अनेक बार शिस्त के प्रश्न स्वयं खड़े करता है । दूसरी तरफ निम्नकक्षा के विद्यार्थी को उसमें विशेष समझ पड़ती नहीं, ऊबासी खाता है । 'स्व-अध्ययन' की विविध पद्धतिओं में (अभिक्रमित अध्ययन, स्वाध्याय पद्धति आदि) प्रत्येक विद्यार्थी अपनी-अपनी कक्षा अनुसार आगे-पीछे रहकर, अभ्यास करता है-नया पाठ सिखता है । इस पद्धति में 'जिज्ञासा' सबसे बड़ा और महत्त्व का परिबल है । सीखने की जिज्ञासा हो या उत्प्रेरणारूप में उसे पैदा करने में आये तो स्वअध्ययन में परिणाम अधिक उजले आयेंगे । इस तरह से शिक्षण में भी जिज्ञासा कुतूहल, नया नया जानने की आतुरता, बहुत अच्छा काम कर जाती है ।

विद्यार्थिओं में से इतर पढ़ने का शौक लगभग मृतःपाय होने लगा है । उनका वाचन 'अभियान' या 'चित्रलोक' जैसे अर्थ बिना के वाचन में सीमित होने लगा है । इतर वाचन

का व्यसन (आदत) पैदा करने में जिज्ञासा भाग निभा सकती हैं । उदा. शाला शुरू होने से पहले समूहप्रार्थना (यदि शाला में होती हो तो) में एकाद उपन्यास के बारे में थोड़ी वस्तु (कन्टेन्ट) की बात करके, अधूरी छोड़ दें । टी. वी. सिरियल में आनेवाले सप्ताह में आगे क्या होगा उसकी जिज्ञासा देखनेवाले को होगी (यदि सिरियल ऐसी अच्छी हो तो) और उसकी राह देखे वैसे उपन्यास की कहानी में फिर क्या हुआ उसे जानने की उत्कंठा विद्यार्थिओं में पैदा कर सकते हैं । तो यहाँ जिज्ञासा काम कर जाती है ।

छोटे बालकों में नया-नया जानने, विश्व के पर्यावरण का परिचय पाने का बहुत बहुत रस होता है-जिज्ञासा होती है । परन्तु पैसे के पीछे भागनेवाले माता-पिता ऐसे अच्छे शस्त्र को 'झिड़की' द्वारा भोथरा बना देते हैं ।

(३) आत्मविश्वास-श्रद्धा-एकाग्रता-पुरुषार्थ

आत्मविश्वास विकसित करना यह प्रगति का प्रथम सोपान है । विद्यार्थिओं में आत्मविश्वास विकसित हो, उस प्रकार के उचित प्रसंग शिक्षक को वर्गशिक्षण कार्य में और सहअभ्यास प्रवृत्तिओं द्वारा खड़ा करना चाहिए । श्रीमोटा आत्मविश्वास के बारे में बतलाते हैं -

'जिसे स्वयं आत्मविश्वास नहीं है, वह जगत में भी कहीं कुछ नहीं कर सकता है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'प्रत्येक **जीव** शिव हो सकता है ऐसा आत्मविश्वास हमारे में जागने दो ।' ('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'आत्मविश्वास यह मिथ्याभिमानी भाव नही हैं, परन्तु यह तो ध्येय के प्रति पहुँचानेवाली आवश्यक भावना है ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'आत्मविश्वास आये बिना साहस, हिंमत, बल, पराक्रम, धीरज आदि गुण प्रत्यक्ष (खुला) नहीं हो सकते हैं । कोई भी कर्म करने के लिए आत्मविश्वास सबसे बड़ा आवश्यक साधन है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'विकसित और दृढ़ हुआ आत्मविश्वास यह तो जबरदस्त शक्ति है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'अपने दिल का आत्मविश्वास यह कठिन से कठिन काम कर सकता है ।' ('जीवनदर्शन', पृ.)

'एक बार यदि तुम्हें अपने आपमें दृढ़, अचल, अडिग विश्वास आ गया तो तुम कोई भी काम कर सकने में समर्थ होनेवाले हो ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

श्रीमोटा आत्मविश्वास को दैवी शक्ति मानते हैं । जीवन का कोई कार्य का कोई भी ध्येय पार होगा ही ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास विकसित करना खूब जरूरी है । जिसे अपने आप में आत्मविश्वास नहीं है, वह जगत में भी कुछ कर नहीं सकता । साहस, हिंमत, बल, पराक्रम, धीरज जैसे गुणों का जन्म आत्मविश्वास को आभारी है ।

आत्मविश्वास-मात्र आत्मविश्वास प्रत्येक **जीव** को **शिव** बना सकता है, ऐसा श्रीमोटा विश्वासपूर्वक कहते हैं । (चुनीलाल भगत नाम का साधारण व्यक्ति संत श्रीमोटा हो

सके, मात्र आत्मविश्वास का जतन करके ।) दृढ़ हुआ आत्मविश्वास शक्तिस्त्रोत समान है । जिसमें आत्मविश्वास प्रकट हुआ है, वह डिगनेवाला नहीं है, निराश नहीं होता, उसका उत्साह या जोश कम नहीं होते, पुरुषार्थ की तीव्रता भी कम नहीं होती है । कारण कि आत्मविश्वास आत्मा का विश्वास बन चूका होता है ।

छोटा बालक आत्मविश्वास से कदम उठाते उठाते दोड़ना सीख लेता है । आत्मविश्वास और प्रयत्न का योग श्रद्धा विकसित करने में सहायभूत होता है । श्रद्धा और आत्मविश्वास मिलने पर व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त होता है– आत्मविश्वास से निर्माण हुआ आत्मज्ञान व्यक्ति को कैसे भी संयोग में टिकने के लिए साधन होता है ।

इसप्रकार, श्रीमोटा आत्मविश्वास को मिथ्याभिमान न मानकर श्रद्धा और आत्मविश्वास का झरना बहानेवाली जबरदस्त शक्ति मानते हैं । जिसकी शिक्षा के बिना मानवी का जीवन अधूरा रहता है ।

आज का शिक्षण परीक्षालक्षी हो गया है । वार्षिक परीक्षा में पास होने के लिए आज का विद्यार्थी क्या क्या नहीं करता है ? रात को जागता है । याद नहीं रहेगा ऐसा मानकर, कागज के टुकड़े बनाकर ले जाता है, माँ बेचारी बालकों के लिए रात को जागकर चाय बनाकर देती है । पेज के पेज समझे बिना, बहुत बार, रटता है, परंतु परीक्षाखंड में जाने से पहले ही उसका 'आत्मविश्वास कड़ककर टूट जाता है ।

यह बात अनेक बार होशियार विद्यार्थी-विद्यार्थीनी को भी लागू पड़ती है । परीक्षाकेन्द्र जैसे निकट आता जाय वैसे आत्मविश्वास अधिक से अधिक डिगता जाता है - अच्छी खासी तैयारी करने पर भी, यदि तैयारी ठीक से की हो, वर्ष के दौरान नियमित अभ्यास किया हो तो अंतिम घड़ी में 'थरथराना' (काँपता है) ऐसा किसलिए ? आत्मविश्वास का अभाव और और स्वयं ने की हुई तैयारी में श्रद्धा का अभाव, कक्षा-१० या कक्षा-१२ में कितने होशियार विद्यार्थी एकाध पेपर में 'ड्रोप' ले लेते हैं, उसमें भी आत्मविश्वास का अभाव प्रत्यक्ष होता है । यदि आत्मविश्वास का गुण विकसित हो तो शाला की परीक्षाओं में तो क्या पर जीवन में साहस करने के बाद सामने आती चुनौतियों से भी व्यक्ति डरता नहीं है । आज जब विवाहित बहनों पर जुल्म किया जाता है, तब बहनों को तो बचपन से ही आत्मविश्वास के-श्रद्धा के घूंट पीलाने चाहिए, जिससे शारीरिक सितमों का अच्छी तरह से सामना कर सके और आत्महत्या करने का दिन कभी न आये । **आत्मविश्वास यह जीवन का अमृत झरना है ।**

अलबत्ता, अत्यधिक आत्मविश्वास यानी बाँझ आत्मविश्वास (किसी भी तरह की तैयारी किये बिना अच्छा परिणाम प्राप्त करने के लिए का) घातकरूप बन सकता है । आत्मविश्वास के साथ श्रद्धा सीधी तरह से जुड़ी है ।

'किसी भी प्रकार के जीवनविकास की साधना की नींव ही श्रद्धा है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'सचमुच श्रद्धा प्रकट हुई हो तो उसका नाम कि जिसमें शंका, संशय, विचार या किसी को स्थान नहीं है ।'

('जीवनदर्शन', पृ.)

'ज्ञानात्मक श्रद्धा कभी अंधी नहीं होती ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'श्रद्धा के तीन प्रकार हैं - तामसिक, राजसिक और सात्त्विक, आदर्श श्रद्धा इससे भी आगे की बात है । **किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प उठे नहीं इसका नाम आदर्श श्रद्धा है ।'** ('जीवनपराग', पृ.)

'श्रद्धा यह पुरुषार्थी का कवच है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'श्रद्धा है बाजू में जानकर पुरुषार्थ से जीवन,
तनदिही से उसका अंत तो दिव्य जीवन ।'

('श्रद्धा', पृ.)

'श्रद्धा सतत पुरुषार्थ द्वारा ध्येय के निकट ले जाने को प्रेरित करती है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'श्रद्धा से हुआ विश्वास ही कसौटी के समय में टिक सकेगा; दूसरा नहीं ।' ('जीवनदर्शन', पृ.)

'श्रद्धारूपी एक महान आशीर्वाद ईश्वर ने मनुष्य पर बरसाया है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा 'श्रद्धा' की पूर्ण समझ देते हैं । श्रीमोटा ने 'श्रद्धा' का एक संपूर्ण शास्त्र निर्माण किया है, जो १२ खंड और ८७ अध्यायों में विभाजित

किया है । कुल २४९४ श्लोक में श्रद्धा की शास्त्रीय समझ प्रदान करके उसका खास महत्त्व समझाया है । यहाँ गुणलक्षी शिक्षा के संदर्भ में 'श्रद्धा' एक विकसाने जैसा गुण रूप में ही लिया है ।

श्रीमोटा श्रद्धा को जीवनविकास की नींव मानते हैं । जीवनपथ पर कदम रखते समय श्रद्धा का श्वास लेते रहना है । यानी कि श्रद्धा श्वास की तरह जीवन में बुन जानी चाहिए । 'श्रद्धा मनुष्य को श्वास की गरज पूरी करती है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.) जीवनविकास का मार्ग श्रद्धायुक्त होना आवश्यक है ।' **जिस मार्ग में हमें श्रद्धा नहीं है, वह मार्ग बिलकुल ग्रहण न करना ।**' ('जीवनसंशोधन', पृ.) विकसित की हुई श्रद्धा आदर्श होनी जरूरी है । आपश्री के चिंतन अनुसार संकल्प या विकल्प बिना की श्रद्धा आदर्श श्रद्धा कहलाती है । तामसिक, राजसिक या सात्त्विक श्रद्धा के भँवर से निकली हुई आदर्श श्रद्धा विकसित करने का बतलाकर श्रीमोटा श्रद्धामय पुरुषार्थ करने का सूचित करते हैं । आदर्श श्रद्धा के साथ के पुरुषार्थ में से संशय या शंका का निर्मूलन होकर विश्वास का निर्माण होता है । ऐसा श्रद्धा निर्मित विश्वास ही कसौटी के कठिन काल में व्यक्ति को टिकाता है ।

श्रीमोटा समझाते हैं कि पुरुषार्थ में प्राण भरनेवाली कोई शक्ति हो तो वह श्रद्धा है । श्रद्धा पुरुषार्थ का कवच भी है, जिसके रक्षण के नीचे पुरुषार्थ जीवित रह सकता है

। ऐसे श्रद्धा से सँभला पुरुषार्थ मानवी को दिव्यजीवन की ओर ले जाता है । श्रद्धादीप के पुरुषार्थी प्रकाश में तर्क-वितर्क, संशय-वहेम, अदृश्य होने पर बुद्धि निर्मल होकर सात्त्विकता प्राप्त करती है ।

श्रीमोटा 'श्रद्धा' को ईश्वर का महान आशीर्वाद गिनते है । क्योंकि श्रद्धा अंतर को प्रकाश देती है; समझ की आँख देती है, अनुभव का हृदय खोलती है । श्रद्धा से निर्बल बलवान और बलवान श्रेष्ठ साधक होता है । श्रेयस्साधक आत्मसाधक होकर भगवान में मिलता है । इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है । (नरसिंह मेहता की अखूट, श्रद्धा ने ही प्रभु के पास से बावन बावन काम करवाये थे ।) ऐसे श्रद्धा एक बड़ा आशीर्वाद है ।

श्रद्धा यह एक महत्त्वपूर्ण प्रेरकबल है । **अपने आपमें श्रद्धा होना वह आत्मविश्वास,** परन्तु व्यापक अर्थ में लिया जाय तो सामने के व्यक्ति में विश्वास होना, अपने कार्य में विश्वास होना, किये हुए कार्य के परिणाम में विश्वास होना यह भी श्रद्धा है । आज के मानवी को अपने में श्रद्धा नहीं रही है एवं सामने के व्यक्ति में भी नहीं रही । हमेशा वह शंका-कुशंका के भँवर में फँसी रहती है । अंधा विश्वास या अंधी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए यह ठीक है, परन्तु अश्रद्धा से हमेशा पीड़ित रहना यह एक रोग है, जिसका अतिरेक हो तो मानवी मानसिक व्याधि से पीड़ित हो जाता है । विज्ञान और टेकनोलोजी की प्रगति के साथ मानसिक दर्दिओं की संख्या

में भी प्रगति होने लगी है। 'श्रद्धा' यह एक ऐसा औषध है, जो उसमें से व्यक्ति को बचा सकता है।

शिक्षण में विद्यार्थिओं को श्रद्धा का पियूष पीलाने में आये, विद्यार्थी श्रद्धा की शक्ति को पहचानता हो जाये तो वह भी बहुत है। व्यक्ति को अपने में और अपने विचारों, भावों, वर्तन में श्रद्धा होगी–मैं जो कुछ सोचता हूँ वह सत्य है, मेरा भाव हकारात्मक है। मेरा वर्तन सही दिशा का है–इस श्रद्धा के साथ विद्यार्थी काम करेगा तो श्रीमोटा के लिखे अनुसार उसकी आंतरशक्ति बलवान होगी।

विद्यार्थी वर्ग में शायद पूरापूरा सही उत्तर न दे सके तो उसका मजाक उड़ाने के बदले सच्चा भाग स्वीकार करके, संभव हो तो प्रयत्न करके उसका उत्तर उसके पास से सुधरवाने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ शिक्षक एक तरह से श्रद्धा का सिंचन करता है। खेल के मैदान में अनेक प्रसंगों खड़े होते हैं, जहाँ श्रद्धा हारी हुई टीम को विजयमाला पहनाती है। (शारजाह के मैदान में पाकिस्तान के जावेद मियांदाद ने अंतिम बोल पर छग्गा लगाकर, हार को जीत में पलट दिया था, वह क्रिकेट के रसिक कभी नहीं भूल सकते हैं।)

श्रद्धा एक अमोघ शस्त्र है–किसी भी क्षेत्र में विजय हासिल करने के लिए। विद्यार्थी के लिए 'एकाग्रता' का गुण अनिवार्य हो जाता है। श्रीमोटा 'एकाग्रता' के बारे में नीचे अनुसार प्रकाश डालते हैं –

'हमारे घर के आंगन में पहला कदम उठाया, वहाँ से ही हमें एकाग्रता बनानी सीखनी है ।'

('अग्रता-एकाग्रता', पृ.)

'एकाग्रता अपने में निश्चयशक्ति प्रेरित करती है, अडिगता प्रेरित करती है, दृढ़ता प्रेरित करती है, धीरज प्रेरित करती है, हमें हिंमत देती है, एकाग्रता हमें दूसरे गुण भी प्रेरित करती है ।' ('अग्रता-एकाग्रता', पृ.)

'संपूर्ण हृदय की एकाग्रता प्राप्त हुए बिना ध्येय का हार्द नहीं पा सकते हैं । एकाग्रता होने से ही वस्तु के साथ का हृदयपूर्वक तादात्म्य साध सकते हैं ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'एकाग्रता से गुण और शक्ति का भाव प्रकट होता है और कैसे योग्य बरतना करे उसकी सूझ भी आती है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'एकाग्रता में से स्थिरता, समाधान और समतुला आती है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'उसके एकाग्रता के प्रभाव से जीवन में नया उत्साह, नया वातावरण, नयी प्रेरणा और नया जन्म प्रकट हुआ अनुभव होता है । इससे जीवन में एक प्रकार की सावधानी और खुमारी प्रकट होती है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'एकाग्रता से तो आनंदपूर्वक स्फूर्ति आती है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

ऊर्ध्वजीवन की विकासयात्रा की ओर आगे बढ़ते बढ़ते पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करनी यह एक साधना है । श्रीमोटा 'एकाग्रता' को नेतृत्वलक्षी गुण कहते हैं- इसलिए एकाग्रता को जीवन में प्राधान्य देना ही चाहिए । विवेकानंद भी एकाग्रता को ज्ञानप्राप्ति की एकमात्र पद्धति बतलाते हैं । निश्चयशक्ति, हिंमत, धीरज, दृढ़ता, स्थिरता, भरोसा, सूक्ष्मता, समतुला और समाधानता जैसे शिक्षाप्रधान गुणों का निर्माण करना हो तो एकमात्र एकाग्रता विकसित करो । एकाग्रता के साथ उसके अनुसंगी सभी गुण अपनेआप होंगे ।

एकाग्रता का ख्याल स्पष्ट करते श्रीमोटा बतलाते हैं कि छोटा बालक कदम बढ़ाना सीखता है, तब वह संपूर्ण एकाग्र बनता है - ऐसी एकाग्रता जीवन पर्यन्त बनी रहनी चाहिए । जीवनध्येय का हार्द पकड़ने के लिए एकाग्रता को हृदयस्थ करनी पड़े । यानी कि हृदय और एकाग्रता के बीच पूर्ण एकत्व निर्माण करना आवश्यक है, जिससे जीवनकर्म अथवा जीवनप्रवृत्तिओं के साथ हृदयपूर्वक का तादात्म्य साध सकते हैं । ऐसा होने से जीवन में नया उत्साह और नया वातावरण प्राप्त होता है ।

एकाग्रता की साधना के फलस्वरूप व्यक्ति गुणी और शक्तिशाली होते हैं । ऐसी गुणलक्षी शक्ति व्यक्ति को जीवन में कैसे व्यवहार करना है, कैसे बोलना है, उस संबंधी आंतरसूझ प्रकट होती है । जीवन में एक प्रकार की 'खबरदारी' और 'खुमारी' प्रकट होती है । वर्तमान युग में व्यक्ति के

जीवन में खुमारी और खबरदारी दोनों का अभाव देखने को मिलता है । यानी कि आज के व्यक्ति के पास नहीं है पर्याप्त जागृति या नहीं है उसके पास जीवन जीने की खुमारी, फलस्वरूप वह कदम कदम पर निराश होकर पीड़ा प्राप्त करता है और ध्येयविहीन जीवन जीता है । श्रीमोटा खबरदारी (जागृति) और खुमारी (आत्मविश्वास) विकसित करने के लिए एकाग्रता की शिक्षा पर भार रखते हैं ।

श्रीमोटा समझाते हैं कि जैसे कुएँ की छाया कुएँ में ही समाती है वैसे एकाग्रता का वरण करनेवाले व्यक्ति के विचार उस व्यक्ति में ही समा जाते हैं और धीरे-धीरे मात्र उत्तम विचारों की प्रधानता प्रकट होती जाती है । उत्तम विचार-व्यक्ति की आंतरिक शक्ति में, मानसिक शक्ति में बढ़ावा करते हैं, जिससे व्यक्ति के व्यवहार भी उत्तम होते जाते हैं ।

'केवल अंतर में जो हो न वह एकाग्रता पूरी
रखो सभी बाह्य कर्मों में वैसी एकाग्रता निपट ।'

('जीवनपराग', पृ.)

यानी कि जीवनव्यवहार के आवश्यक ऐसे सभी कर्म करते समय भी एकाग्रता के गुण को जीवनविकास के लिए विकसित करना खूब जरूरी है ।

अध्ययन में 'एकाग्रता' नींव की ईंट है । अनेक विद्यार्थी घर या शाला में पढ़ने का दिखावा करते होते हैं - आँख पुस्तक के पेज पर घूमती हो और मन दूसरी जगह भटकता हो, आज के विद्यार्थिओं में 'चंचलता' का प्रमाण

अधिक देखने को मिलता है, उसका एक कारण दैनिक जीवन में शीघ्रता, ज्ञानविस्फोट, जीवन की अनेक विधता जैसे परिबल काम करते हो ऐसा हो । सामान्य से सामान्य काम हो तो भी एकाग्रता हो तो वह काम अच्छी तरह से होता है । उदा. रूप में गृहिणी सब्जी को काटने के काम में एकाग्रता रखे तो चाकू या छरी लगेगी नहीं और सब्जी समान कटती है । शिक्षण में तो पढ़ा हुआ या लिखा हुआ साहित्य याद रखना होता है, भविष्य में उसका मूल्यांकन होनेवाला होता है । यदि यह काम एकाग्रता से करने में आये तो समय का बचाव होता है, धारण (Retention) क्रिया अच्छी तरह से होती है और सरलता से काम होता है । अब तो विषय बढ़ गये हैं और तास के लिए खिंचाखिंच होती है । (शिक्षक सीखाना चाहता है वह पूर्वधारणा के साथ में !) इससे अधिक का तास कहाँ से लाये ? पहले तो सप्ताह में एक तास 'शांत वाचन' (Silent Reading) का रखा जाता था, जिसमें विद्यार्थी इतरवाचन की पुस्तकें पढ़ते थे । **यदि शालाकक्षा से एकाग्रता का गुण विद्यार्थिओं में विकसित किया जाय तो भावी जीवन में व्यक्ति किसी भी प्रकार के व्यवसाय में हो, तब भी उपयोगी हो पड़ता है ।**

अमुक शालाओं में 'प्रार्थना', के बाद चार-पाँच मिनिट का मौन रखाया जाता है, इससे भी धीरे-धीरे क्रमशः एकाग्रता विकसित की जा सकती है । जैसे अर्जुन को पक्षी की आँख के सिवा कुछ नजर नहीं आता-पक्षी की आँख पर ही

एकाग्रता एकत्रित हो गई थी और लक्ष्यवेध में सफलता प्राप्त की थी वैसे जीवन में जो कोई लक्ष्य हो, उस पर ही सभी इन्द्रियों-शक्तियों-समय एकत्रित करने में आये तो वह व्यक्ति भी अपने लक्ष्यवेध में सफल हो ।

किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ की जरूरत है, फिर वह सिद्धि शिक्षणक्षेत्र में पानी हो-अच्छे नंबर लाकर उत्तीर्ण होना या सुवर्णचंद्रक प्राप्त करने के लिए अथवा आध्यात्मिकक्षेत्र में मोक्षप्राप्ति पाने के लिए की । अनेक विद्यार्थी और बहुजनसमाज, अनेक बार, 'प्रारब्ध' को अत्यधिक महत्त्व देकर पुरुषार्थ करने से पलायनवादी वृत्ति अपनाते हैं । श्रीमोटा ने पुरुषार्थ और प्रारब्ध के बारे में बहुत लिखा है । उनमें से अमुक रत्नकणिकाएँ नीचे अनुसार है-

'मन को' संबोधन
'बूँद बूँद से तालाब भरता,
उदासीन तुम्हें फिर क्यों होना ?
भले ही कटा हो पथ थोड़ा,
तब भी वेग उसमें से जन्म लेगा ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'अनेक कहते हैं कि प्रारब्ध में था वह मिला, पर मैं कहता हूँ कि पुरुषार्थ से प्रारब्ध भी पलटा सकते हैं ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'महत्तम प्राप्ति की इच्छा होना यह स्वयं भी एक तरह का पुरुषार्थ है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'जो कोई सच्ची भावना से सचमुच उत्कट पुरुषार्थ करता है, उसे अवश्य कृपा मिल जाती है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'प्रयत्न करते रहने से ही जीवन की उषा प्रकट होनेवाली है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'लगता हो कहीं भी नहीं आशा-किरण एक भी,
तथापि वहाँ पुरुषार्थ छोड़ देना न योग्य वह ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'कैसा भी होगा भूत पुरुषार्थ से मथ मथ कर,
भविष्य वर्तमान में जो लायेगा, धन्य वह होगा ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'पाने के लिए पुरुषार्थ अनिवार्य है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

जीवन में कुछ भी प्राप्त करना हो तो उसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करना अनिवार्य है । वन के राजा सिंह को भी शिकार करने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । यानी कि पुरुषार्थ में प्राप्ति की पूर्णता है । उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा पुरुषार्थ का महत्त्व समझाते हैं । यह सत्य है कि लंबी से लंबी यात्रा की शुरूआत एक कदम से ही होती है । जैसे बूँद बूंद से ही तालाब भरता है वैसे छोटे छोटे प्रयत्नों और पुरुषार्थ द्वारा ही ध्येय का पथ कटता है ।

श्रीमोटा नसीबवादी या प्रारब्धवादी बनने से मना करते हैं । वे मानते हैं कि सब कोई प्रवृत्ति में प्रयत्न की ही

आवश्यकता होती है। वे दृढ़तापूर्वक बतलाते हैं कि प्रज्ज्वलित पुरुषार्थ प्रारब्ध को भी बदल सकता है । यानी कि कठोर पुरुषार्थ का विकल्प नहीं हो सकता है ।

वर्तमान समय में सहजता से सिद्धि पाने के लिए प्रपंच रचते होते हैं । कोई प्रार्थना के पीछे, तो कोई गुरु की कृपा के पीछे, तो कोई पैसों के जोर पर सिद्धि पाने के लिए दौड़ता है । श्रीमोटा सरल समझ देते हुए कहते हैं कि कृपा कहीं से भी मिलनेवाली नहीं है । क्योंकि वह तो पुरुषार्थ में ही समायी हुई है । 'गुरु की कृपा यह तो साधक से होते जाते पुरुषार्थ की भावना में से फलित होता भाव है।' ('जीवनपराग', पृ.) यानी कि कृपा पाने के लिए इधरउधर भटकने की जरूरत नहीं है, मात्र पुरुषार्थ में से ही कृपा मिलनेवाली है । इतिहास और शास्त्रों में तो देखने को मिलता है कि प्रचंड पुरुषार्थ करके राक्षसों भी कृपा प्राप्त कर सके हैं । श्रीमोटा बताते हैं कि 'जन्मसिद्धों भी पुरुषार्थ करते हैं।' ('जीवनपराग', पृ.) यानी कि अवतारी पुरुषों ने भी अपने जीवन पुरुषार्थ द्वारा प्रकाशित किये हैं । पुरुषार्थ प्रारब्ध खिंच लाता है, पुरुषार्थ कृपा घसीट लाता है। पुरुषार्थ ध्येयसिद्धि को अधिक पास ले आता है। भूतकाल की चिंता छोड़ो–यानी कि जो हो गया है, उसे छोड़ दो । केवल वर्तमान में पुरुषार्थ करो । वर्तमान ही भविष्य रचता है । भविष्य को मजबूत बनाने, तेजस्वी बनाने, वैभवी बनाने वर्तमान में पुरुषार्थ करना यही उत्तम मार्ग है ।

'*निर्बल के बल राम*' इस कहावत का भावार्थ समझाते हुए श्रीमोटा बतलाते हैं कि '*निर्बल के बल राम*' अर्थात् जो निर्बल है, लाचार है, उसका भगवान अवश्य भला करेंगे ऐसा अर्थ नहीं करना है, परन्तु पुरुषार्थ की सभी सीमाएँ तोड़कर, शरीर का सभी प्रकार का बल खर्च कर देना है । यानी कि हम अहम् प्रेरित कर्म करते हैं, उस अहंकार का बल छोड़कर भगवान के शरण जाना यह निर्बल बनना है, ऐसे निरहंकारी निर्बल का बल राम है, तभी '*निर्बल के बल राम*' सार्थक होनेवाला है ।

संक्षेप में प्रयत्न या पुरुषार्थ के बिना जीवन में कुछ भी नहीं मिल सकता । कृपा या आशीर्वाद भी पुरुषार्थी को ही प्राप्त होते हैं । पुरुषार्थ विकसित करने से ही जीवन प्रकाशमय होता है, सिद्धिवान होता है । शिक्षणक्षेत्र में पुरुषार्थ की बात में खूब ही सोचनीय और दयाजनक चित्र देखने को मिलता है । विद्यार्थिओं को संक्षिप्त से संक्षिप्त रास्ते—कम मेहनत करके—ऊँची सिद्धि प्राप्त करनी है । इसके लिए कौन-सा साधन उपयोग होता है, इस बारे में कोई शंका नहीं रही है । इससे ही शिक्षणक्षेत्र में भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया है और उसमें विद्यार्थिओं से उनके मातापिता अधिक जिम्मेदार हैं । दो नंबर के पैसों का उपयोग करके, गरीब या पैसों के लालची को सरलता से खरीद लेते हैं । विद्यार्थी का अर्थ होता है विद्या का अर्थी-विद्या पाने के लिए तनतोड़ पुरुषार्थ

करनेवाला । शिक्षकों ने विद्यार्थिओं को अच्छी तरह से सीखलाने का पुरुषार्थ करना है ।

पुरुषार्थ की बात एक तरफ धकेलकर, लघुतम जिम्मेदारी (जिसके लिए उसे सरकार की ओर से वेतन मिलता है) वह भी अदा नहीं करते हैं । अनेक शिक्षक तो कहते हैं कि शाला का समय यह हमारे लिए 'rest time' (आराम का समय) है । सुबह के पाँच या छ बजे से दस (बहुत बार तो ग्यारह बजे ही शाला में टिफिन मँगा लेते हैं ।) का समय और शाम ६: बजे के बाद का समय जो बहुत बार रात के नौ-दस बजे पूरा होता है - यह समय अवधि उनके पुरुषार्थ की है । इस समय दौरान पूरे मन से शिक्षणकार्य करते हैं - केवल वह ट्युशन स्वरूप में होता है । संचालक या अधिकारी वर्ग (बिनसरकारी और सरकारी) पुरुषार्थ करता तो है पर वह शिक्षण की गुणयुक्तता बनाने या बढ़ाने के लिए नहीं, परन्तु द्रव्योपार्जन करने में-इसके लिए जो कुछ पुरुषार्थ करना पडे, उसे करने में पीछे नहीं रहते ! यह शायद 'पुरुषार्थ' की कमनसीबी है !

(३) सुसंवादिता और सहिष्णुता

अच्छी तरह से जीवन जीने के लिए जीवन में सहिष्णुता विकसित करनी जरूरी है । यदि व्यक्ति सहिष्णु हो-गम खाने की ताकत रखता हो तो उसमें से जीवन में सुसंवादिता का तालबद्ध संगीत सुनने को मिलता है । इन गुणों की शिक्षा भी

विद्यार्थीअवस्था में होना जरूरी है ।* शायद ऐसा हो कि अधिक पढ़ा हुआ व्यक्ति अधिक असहिष्णु हो और अपनी ही राय स्वीकृत करवाता जाय, तब सुसंवादिता के तालबद्ध संगीत के बदले विसंवादिता का शोरगुल, कर्कश, दंगलभरा वातावरण घरों में - गृहस्थजीवन में, ऑफिसों में-व्यवसायी जीवन में और सामाजिक जीवन में दृष्टिगोचर होता है ।

श्रीमोटा की इस बारे में विचारकणिकाएँ -

'सुमेल-सुसंवाद-समाधान और समन्वय जीवन के प्रत्यक्ष लक्षण गिन सकते हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'अन्य के स्वभाव, वाणी, जीवनदृष्टि, भाव, मानस, जीवनव्यवहार को संक्षेप में अन्य के समग्र व्यक्तित्व को सम्मान देना इसका नाम हृदय-सौजन्य अथवा मानसिक उदारता ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'हार्दिक उदारता अर्थात् **जीव**मात्र के प्रति मैत्रीभाव ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'प्रभुकृपा और उदार मन यह दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । ईश्वर, मनुष्य और विश्व इन सभी में व्याप्त रहनेवाले प्रेम के ही ये दोनों स्वरूप हैं ।'

('जीवनसंदेश', पृ.)

'मानसिक उदारता या सहिष्णुता का अभ्यास हमारे समस्त सूक्ष्म शरीर में नवजीवन का संचार करता है और

* यद्यपि शिक्षण के साथ इसका संबंध नहिवत् जैसा होता है ।

हमारे में से जड़त्व को हटाने लगता है ।'

('जीवनसंदेश', पृ.)

'सहिष्णुता यानी मानसिक उदारता जितने अंश में विकसित करेंगे उतने प्रमाण में भगवान का यंत्र बनने की क्रिया में हम अपने आपको सहायरूप होंगे ।'

('जीवनपराग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा मानसिक गुण, उदारता की समझ प्रस्तुत करते हैं । मानवी मानवी को जोड़नेवाला या मिलानेवाला कोई परम तत्त्व हो तो वह उदारता है । श्रीमोटा सुमेल, सुसंवाद, समाधान और समन्वय जैसे जीवन के प्रत्यक्ष लक्षण विकसित करने को कहते हैं और बड़े व्यक्तिओं के प्रति उदार मानस विकसित हो, इसके लिए मान, आदर, नम्रता और विवेक जैसे गुण विकसित करने को कहते हैं ।

व्यक्ति के आत्मविकास के लिए अन्य की विशिष्टताओं, विचित्रताओं और घृणाजनक विकृतियाँ सहन करने की ताकत उदार मानस के बिना संभव नहीं है । श्रीमोटा उदार मानस विकसित करने अन्य के समग्र व्यक्तित्व को सम्मान देने को कहते हैं । **जीव**मात्र के प्रति मैत्रीभाव व्यक्त करते रहने का बतलाकर, धिक्कारना ही हो तो वह आलस्य, प्रमाद और बेदरकारी को धिक्कारना है वैसा समझाते हैं ।

प्रभुकृपा और पुरुषार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू समान है, साथ ही उदारता । ये सभी प्रेम के ही भिन्न स्वरूप

हैं । उदारता का महत्त्व समझाते हुए वे कहते हैं कि प्रेम का पूर्ण परिचय पाने के लिए मानसिक उदारता या सहिष्णुता अनिवार्य है । मानसिक उदारता या सहिष्णुता का अभ्यास समस्त सूक्ष्म शरीर में नवजीवन का संचार करता है, व्यक्ति में रही संकुचितता, स्वार्थवृत्ति, ममत्व आदि को मनप्रदेश से बाहर निकालता है । ऐसे उदारता जीवन को सार्थक तथा आनंदमय करती है ।

श्रीमोटा समझाते हैं कि मानसिक उदारता अथवा सहिष्णुता का अभ्यास व्यक्ति की संकुचित मनोदशा का, स्वार्थवृत्ति का, ममत्व का नाश करके भावों के आवेश का नियमन करता है । व्यक्ति के जीवन में श्रेयस्कर आनंदप्रद तत्त्वों का निर्माण होता है, जो संपूर्ण सृष्टि में भगवान के दर्शन करने को प्रेरित करते हैं – यानी कि भगवान के यंत्र बनाने की क्रिया में व्यक्ति अपने आपको सहायभूत होता है ।

श्रीडोंगरेजी महाराज कहते थे, 'चलेगा, खपेगा, निभेगा' । यदि मनुष्य इतना स्वीकार कर ले तो फिर उसे कोई लड़ाई-झगड़े का प्रश्न नहीं रहेगा । एक तरह से देखा जाय तो यह त्रिवेणीसंगम के लिए का योग्य पर्याय 'सहिष्णुता' है ।

कुछ झुकते रहे, निभा लेना, ये गुण तो आज अपवादरूप किस्से में देखने को मिलते हैं । वहाँ 'अहम्' आड़े आता है । घर से शुरू करके आंतरराष्ट्रीय कक्षा तक यदि जीवन में शांति स्थापित करनी हो, आबादी लानी हो, समृद्धि में लोटना हो तो मनुष्य को 'गम' खाना सीखना पड़ेगा । श्रीडोंगरेजी

महाराज कहते थे, **'मूँग खाओ और गम खाओ'** इस छोटे से विधान में कितना महान सत्य छिपा हुआ है । आज तो घर में झगड़े, गली में झगड़े, परिवार में झगड़े, प्रांतीय झगड़े, वादों के झगड़े, देश-देश के बीच झगड़े केवल असहिष्णुता के दर्शन होते हैं । मनोविज्ञान में भी कहा है कि विद्यार्थिओं में देखने को मिलती अशिस्तता यह शिक्षकों की अशिस्तता का प्रतिबिम्ब है । विद्यार्थिओं में सहिष्णुता का गुण विकसाने के लिए प्रथम तो शिक्षक, आचार्य, मातापिता, बड़ों को सहिष्णु बनना होगा । श्रीमोटा ने बिलकुल सच कहा है - साहिष्णुता का अभ्यास व्यक्ति की संकुचित मनोदशा, स्वार्थवृत्ति, ममत्व का नाश करके, भावों के आवेश का नियमन करता है । दो पड़ोसी झगड़ते हैं, क्योंकि वहाँ ममत्व है, दो देश लडते हैं, क्योंकि वहाँ स्वार्थवृत्ति है । पतिपत्नी झगड़ते हैं, क्योंकि वहाँ संकुचित मनोदशा है । **सहिष्णुता का अभ्यास अर्थात् प्रयत्नपूर्वक सभानता से सहिष्णुता विकसित करनी ।**

(४) महत्त्वाकांक्षा

जीवन जीने के लिए आवश्यक ऐसे महत्त्व के प्रेरकबलों से एक प्रेरकबल यानी महत्त्वाकांक्षा । 'कुछ बनने की' 'कुछ होने की, 'कुछ कर गुजरने की' महत्त्वाकांक्षा ही मनुष्य के जीवन में गति प्रदान करती है । श्रीमोटा के मत से महत्त्वाकांक्षा का अभाव जीवन में नीरसता और प्रमादीपन जन्माता है ।

महत्त्वाकांक्षा को एक उद्दीपक के रूप में समझाते हुए श्रीमोटा के विचार नीचे अनुसार हैं –

'जीवन में यदि ऊर्ध्वविकास करने की उत्कट आतुरता जिसे है, उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा को जलती हुई और झिलमिलाती रखा करनी है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'जीवन में जिसे जीवनविकास की महत्त्वाकांक्षा जागती है, उसे किसी भी प्रकार की निराशा नहीं रहती है । महत्त्वाकांक्षा का लक्ष प्राप्त करने के लिए जीवन में एक प्रकार का जोश प्रकट होता है और हमारी बुद्धि को प्रेरणा के पंख लगते हैं और भावना का प्रपात स्फुरित होता है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'सबसे पहले तो महत्त्वाकांक्षा की जरूरत है । इससे **जीव** आत्मा को पा सके, ब्रह्म भी बन सके । पर इसके लिए रक्त की प्रत्येक बूँद खर्च करने की ताकत, तत्परता होनी चाहिए । जिसमें यह प्रकट हुई होती है, वह नरक के खड्डे में पड़ा हुआ हो, तब भी स्वयं को ऊपर उठाने की उसमें शक्ति आती है ।' ('मौनमंदिर का मर्म', पृ.)

'जीवन में आनंद लाना हो तो महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए । इतना ही नहीं, पर उस महत्त्वाकांक्षा को आकार देने के लिए क्या करना चाहिए, उसका ख्याल भी आना चाहिए । इसके लिए विचारपूर्वक की योजना होनी चाहिए । और उस अनुसार वह जीवन बीताता होना चाहिए ।'

('मौनमंदिर का मर्म', पृ.)

जिस व्यक्ति के जीवन में तीव्र ऐसी झिलमिलाती या सुलगती महत्त्वाकांक्षा की रुचि होती है, उसका जीवन सतत ऊर्ध्वविकास की ओर प्रयाण करता देखने को मिलता है । जीवन का उच्चतम विकास करने के लिए महत्त्वाकांक्षा की आवश्यकता समझाते हुए श्रीमोटा व्यक्तिनिर्माण में उसका महत्त्व प्रस्थापित करते हैं । जीवन की दिशा निश्चित करनेवाली शक्ति व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा है । महत्त्वाकांक्षा के आधार पर ही जीवन का आयोजन निश्चित होता है । इस आयोजन को पूर्ण करने के लिए सभानपूर्वक प्रयत्न और परिश्रम किया जाता है और प्रयत्न एवं परिश्रम के अनुभवों से समझ विकसित होने पर व्यक्ति के निर्माण का विस्तृतीकरण होता है ।

श्रीमोटा कहते हैं, 'जीवन में जोश महत्त्वाकांक्षा से ही पैदा होता है । एक बार महत्त्वाकांक्षा जागने के बाद निराशा कहीं नहीं रहती है और इसके कारण बुद्धि को भी प्रेरणा के पंख लगते हैं । यही प्रेरणा ही जीवन की ऊर्ध्वगति तीव्र करती है । अरे ! महत्त्वाकांक्षा रख करके राक्षस भी देव बने हो ऐसे उदाहरण कहाँ नहीं हैं ?'

हाँ, मात्र महत्त्वाकांक्षा रखना यह रात्रिस्वप्न के समान है । श्रीमोटा महत्त्वाकांक्षा को आकार देने व्यावहारिक विचार करके क्या क्या करना चाहिए, उसकी योजना बनाने को भी कहते हैं । इस योजना अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए । जिससे महत्त्वाकांक्षा द्वारा निर्मित जीवनलक्ष प्राप्त कर सकते

हैं । श्रीमोटा तो रक्त के अंतिम बूँद तक कार्यरत रहकर महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि प्राप्त करने को कहते हैं ।

श्रीमोटा स्वानुभव* के आधार पर यहाँ तक कहते हैं कि महत्त्वाकांक्षा के माध्यम से **जीव** आत्मा को पा सकता है । मानवी नर से नारायण होकर प्रभुपद भी प्राप्त कर सके ऐसा है ।

(५) जागृति, सद्‌वृत्ति और सुदृष्टि

विद्यार्थीजीवन में पलपल की जागृति (awareness) खूब ही जरूरी है, जिसका आज शून्यावकाश है । जागृति के साथ 'सद्‌वृत्ति' और 'सुदृष्टि' भी इतने ही जरूरी हैं । भारतीय आदर्श अनुसार शिक्षा का हेतु तो *'सा विद्या या विमुक्तये'* है । विभक्ति का अर्थघटन अनेक तरह से कर सकते हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से 'मोक्षप्राप्ति' को हेतुरूप मानो कि न लिया जाय तो भी व्यसनों से मुक्ति, दुराचारों से मुक्ति, षड्‌रिपुओं से मुक्ति आदि अनेक अर्थ कर सकते हैं, इसके लिए पहले की चर्चा किये हुए गुणों के निर्माण के साथ साथ, 'जागृति', सद्‌वृत्ति और सुदृष्टि को विकसित करने की अधिक जरूरत है ।

---

* अपने पिता को पुलिस ने मारा था । तब बालमोटा के शिशु मानस में प्रतिक्रिया पैदा हुई थी कि 'सब कोई गरीबों को ही अन्याय करता है ।' इस प्रतिक्रिया से उन्होंने 'मोटा' बनने की महत्त्वाकांक्षा रखी थी और उसकी पूर्णता के लिए जीवन समर्पित करके सचमुच 'मोटा' बन सके ।

व्यक्ति-निर्माण के लिए जागृति, सद्‌वृत्ति और सुदृष्टि का महत्त्व समझाते हुए श्रीमोटा के प्रेरणादायी विचार नीचे अनुसार हैं –

'जो जाग सकता है, वह जी सकता है, बाकी के नहीं ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'ध्येय सम्बन्धी असावधानी इसका नाम मृत्यु ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'कृपा करके उठो ! जागृत बनो ! जागकर टट्टार हो जाओ ! टट्टार होकर कटिबद्ध होकर, विचारवृत्ति और आदत के सामने बड़े से बड़ा संग्राम खेलो ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'दुःख, कठिनाई, आपत्तिओं, उलझनों, संघर्षणों में जितना व्यक्ति जागृत रहेगा उतना उसका विकास होगा । जागृति पर आधार है ।' ('जन्मपुनर्जन्म', पृ.)

'**वृत्ति अर्थात् गति ।** यदि हमारी सच्ची वृत्ति किसी भी प्रकार की वह हो– जागी होगी तो वह गति करवायेगी ही ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'हमारे हृदय की दानत यदि शुद्ध होगी और हमें यदि प्रामाणिक प्रयत्न हुआ करता होगा और हमारे प्रयत्न के अभ्यास में भावना की अटूटता आती होगी तो किसी की ताकत नहीं कि हमें ठग सके ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'वृत्ति को इधरउधर न होने देना कभी ।'
('अभ्यासी को', पृ.)

श्रीमोटा जागृति को 'योग' समान मानते हैं । जिसे अच्छी तरह से जीना है, जीवन में उच्च कक्षा प्राप्त करनी है, उसे जीना ही पड़ेगा । जागृति स्वयं एक प्रकार की शिक्षा है । व्यक्ति के निर्माण के लिए जागृति की संगत अनिवार्य है । दुःख, कठिनाई, उलझनों और आपत्तिओं में ऐसा **जीव** ही टिक पाता है अथवा जी सकता है कि जो जागृत हुआ है ।

केवल जागृति से रुकना नहीं है । श्रीमोटा के चिंतन अनुसार जागृति से तो मात्र परिस्थिति या योग-संयोग अथवा गुणों का भान होता है । जागृति यह तो प्रथम कदम है । जागने के बाद कुछ नहीं करेंगे तो जागृति अधिक पीड़ाकारक होगी । इसीलिए आपश्री आह्वान करते हैं कि जागो, उठो और कटिबद्ध होकर अधिक से अधिक संग्राम करो । यानी कि जागृति से प्रेरणाशक्ति पाकर खड़े होकर ध्येय की भावना में निष्ठापूर्वक लग जाना है ।

ध्येय के प्रति असावधानी अर्थात् ही अजागृति की तीव्रता । श्रीमोटा ऐसी अजागृति अथवा तो असावधानी को मृत्यु समान गिनते हैं । केवल जीवित लाश बनकर घूमने फिरने से कुछ हासिल नहीं होगा । जीवनविकास के लिए शरीर से जागो, मन से जागो, आत्मा से जागो, हृदय से जागो - और ऐसी पूर्ण जागृति प्राप्त करने के बाद ध्येयनिष्ठा के साथ अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने विचार, अपनी वृत्तिओं और दृष्टि के सामने सभानतापूर्वक

संग्राम खेलना-यही श्रीमोटा की व्यक्तिलक्षी व्यवहारिक शिक्षा है ।

जागृति के साथ ध्येय की सभानता आये तो स्वयं प्रेरणा से आत्मगति प्राप्त होगी । गति यानी प्रयाण अथवा गति यानी एक प्रकार की वृत्ति ।

जागृति के कारण आयी सभानता की छाया में सच्ची वृत्ति विकसित होती जाती है । इस सच्ची वृत्ति के साथ में गति अधिक तीव्र होती है । श्रीमोटा जागृति के साथ सच्ची वृत्ति (सद्‌वृत्ति) विकसित करने को भी कहते हैं । सच्ची वृत्ति का एक बार निर्माण हो, फिर वह ध्येयपथ से इधर उधर न हो, ऐसी जागृति रखने की आदत व्यक्ति को रखनी ही पड़ेगी, यदि उसे सच्चे दिल से प्रगति करनी हो तो ।

सबलता, कुशलता और बुद्धिमत्ता प्राप्त करने के लिए श्रीमोटा अटूट प्रयत्नों की पराकाष्ठा के साथ भावनापूर्ण सभानता रखने को कहते हैं । परन्तु इसके लिए दो शर्तें भी बतलाते हैं - हृदय की शुद्धता और प्रामाणिक प्रयत्न इसके लिए अनिवार्य हैं ।

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' दृष्टि में सृष्टि समायी हुई है यानी कि सुख-दुःख, भाव-प्रतिभाव, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि युग्म विषयक भेद दृष्टि के कारण ही है । इससे जिसकी दृष्टि अभ्यस्त होगी, वह व्यक्ति स्वयं का आत्मनिर्माण सरलता से कर सकेगा । व्यक्तिनिर्माण संबंधी दृष्टि एक महत्त्वपूर्ण शक्ति

है । मन के विचारों का उद्‌भव तत्त्व दृष्टि ही है और व्यक्ति के आचार मन के विचारों का प्रतिबिम्ब है । इसप्रकार व्यक्ति का आचार, विचार, भाव, आक्रोश, प्रेम, घृणा, भाव, धिक्कार आदि की नींव में दृष्टि कारणभूत है । व्यक्तिनिर्माण संबंधी दृष्टि का महत्त्व समझाते हुए श्रीमोटा के शिक्षा विषयक विचार नीचे अनुसार हैं –

'जो अन्य का दोष देखा करता है, वह निर्बल है ।'
('मौन-एकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'हम अपने व्यवहार आदर्श रखा करने का प्रयत्न करेंगे तो अन्य का दोष देखने की दृष्टि हम में रहेगी ही नहीं ।'
('विवाह हो मंगलम्', पृ.)

'किसी भी व्यक्ति पर मानसिक अरुचि हो जानी वह हमारे लिए अच्छा नहीं है । इसका कारण अन्य नहीं हैं पर हमारा स्वभाव और प्रकृति भी उसे उत्पन्न करने में सबसे बड़ा भाग निभाती है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'हमें तो सभी किसी के गुण की पूरी कदर किया करनी है । हमारे गुण की कोई कदर न करे तो उसकी लेशमात्र परवाह नहीं करनी है ।'
('संसार में वृंदावन', पृ.)

'मैं तो कहता हूँ कि अधम से अधम हो तो भी उसे इस तरह से हम न समझें । उसमें भी कोई सद्‌अंश रहा हुआ है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'किसी को भी अपना मत, अभिप्राय, सच्चाई, आग्रह से मन में बैठाने का प्रयत्न करना उसमें सूक्ष्म हिंसा रही हुई है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'किसी भी जीव के बारे में, किसी प्रकार का अभिप्राय न बँध जाये यह हमारे लिए उत्तम बात है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

मनुष्य समूह में जीता **जीव** है । इससे व्यक्ति पर समूह की प्रभावकारी असर देखने को मिलती है । व्यक्ति, व्यक्ति के सतत संपर्क में आता है, इससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास से कुछ प्राप्त करता है और दूसरे व्यक्ति को कुछ देता है । वह मात्र वस्तु या सेवा की लेनदेन नहीं करता । परन्तु आचार, विचार, गुण, प्रकृति, कुशलता, ज्ञान, स्वभाव, रहनसहन, जीवनपद्धति, मूल्यों आदि की लेनदेन भी जाने अनजाने में करता होता है । इस लेनदेन के कारण से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सहकार से जुड़ता है अथवा संघर्ष में भी उतरता है । यदि संघर्षण बढ़ता जाय तो व्यक्ति का व्यवहार दिनप्रतिदिन प्रतिक्रियावाला होता जाता है, अरुचि, धिक्कार और बदले की भावना से व्यक्ति का मन भर जाता है । इससे मन की प्रसन्नता तथा शांति छिन जाती होती है । इससे वैसे व्यक्ति के जीवनव्यवहार में आक्रोश आ जाता है । इस प्रकार से व्यक्ति का जीवन अशांति और उद्वेग से भर जाता है ।

श्रीमोटा जीवन से अकारण होता संघर्ष हटाने और मन की प्रसन्नता बनाये रखने 'सुदृष्टि' विकसित करने की सलाह देते हैं । दृष्टि बदलेगी तो व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बदलेगा ही । अन्य के दोष देखना यह निर्बल और कायर व्यक्ति का काम है । परिवर्तन की प्रक्रिया दूसरों पर लादे बिना स्वयं पर ही करनी वैसा समझाते हुए श्रीमोटा व्यक्ति को अपना बरताव आदर्श रखने का कहते हैं । दुःखों का कारण अन्य कोई नहीं किन्तु व्यक्ति स्वयं ही है - ऐसा बतलाकर श्रीमोटा दूसरे किसी भी व्यक्ति के प्रति अरुचि त्यागने को कहते हैं । **उदारता, सहिष्णुता और बाकी गुणों का हमारे में संवर्धन हो, इसके लिए दूसरों का दोष देखना छोड़कर हर किसी के गुणों की पूरी कदर करने का आपश्री बतलाते हैं ।** अपने में अच्छे तत्त्वों का संग्रह करना होगा तो दूसरों के पास से भी अच्छे तत्त्व ही ग्रहण करना जरूरी है ।

अधम से अधम व्यक्ति में भी कहीं दैवीशक्ति का अंश छिपा हुआ है, वैसी सुदृष्टि प्रत्येक में निर्मित हो, इस तरह से सभानतापूर्वक प्रयत्न करना इस बात पर श्रीमोटा ध्यान खींचते हैं । अपने गुणों की कोई कदर करे या न करे इसकी लेशमात्र परवाह नहीं करनी है । साथ ही साथ स्वयं ही सच्चे हैं, वैसा दूसरों को समझाने का दुराग्रह न करने का भी वे सूचित करते हैं ।

इसप्रकार, श्रीमोटा सुदृष्टि द्वारा व्यक्तिनिर्माण कितना

सरल है इसे समझाते हैं । दूसरों के दोष देखना छोड़कर, अपना व्यवहार आदर्श रखना और अंतर्मुख होकर 'स्वयं ही' गुणों का संवर्धन हो ऐसी दृष्टि विकसित करना साधना व्यक्तित्व विकास के लिए अनिवार्य है । व्यक्ति अपनी बहिर्मुखता के कारण जिस तिस में अमुक प्रकार का देखना, मानना या समझना अथवा मापने का रखे, इससे व्यक्ति के मन में आवेश या आक्रोश प्रकट होता है और दूसरे के मंतव्य, मूल्य या विचार दोषयुक्त हैं, ऐसी ग्रंथि प्रबल होते ही दुःख की शुरूआत होती है । श्रीमोटा 'अच्छा देखो और अच्छा बनो ।' यह सूत्र यथार्थ करने के लिए सुदृष्टि विकसित करने को कहते हैं ।

(६) तमस-रजस-सत्त्व

जीवन में प्रत्येक कर्म तमस, रजस और सत्त्व गुण की प्रेरणा से होता रहता है । व्यक्ति को अपने जीवन में कब कौन-सा गुण अधिक तीव्र हो रहा है, यह आत्मनिरीक्षण के लिए जानना जरूरी है । श्रीमोटा ने ये तीन गुण (मनोभाव के भिन्न प्रकार) खूब ही स्पष्टरूप से समझाये हैं -

'तमोगुण में आलस्य, जड़ता, प्रमाद, निर्बलता, अश्रद्धा, शिथिलता, अशक्ति, अकौशल्य, उमंग का अभाव, शंका-कुशंका, निराशा, बिषाद, रूदन, अग्रहणात्मक स्थिति, तनदिही का अभाव, अनिर्णित, बेपरवाही, बेदरकारी, अनियमितता, सातत्य का अभाव, यद्वातद्वापन, थकान, मोह, अज्ञान, ठंडे

और बासी पदार्थ-खाद्यवृत्ति, मंदगति, भूल जाना, सुस्तपन, मंद सौन्दर्यग्राहकशक्ति, मंद रसवृत्ति, मनोभावों का मर्यादित प्रत्युत्तर आदि होता है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

रजस में वेग, शक्ति, कुशलता, चपलता, परिस्थिति को काबू में लेने की इच्छा, सक्रियता, सबलता, होश, पुरुषार्थ करने की चाहना, आशावाद, एक की एक स्थिति में रहने की अनिच्छा, संघर्ष करने की वृत्ति, आग्रह, नेता होने की वृत्ति, अहम् का जोश, कीर्ति की चाहना, सावधानी, नियमितता, सातत्य, सीखने की आतुरता, सर्जनशक्ति, उमंग, ग्राह्यता, आवेग, आवेश, कामना, आशा, इच्छा, अपेक्षा, चंचलता, स्फूर्ति, चैतन्य, आसक्ति, राग, उपद्रव, प्रवृत्तिप्रियता, स्पर्धा, लोभ, हिंसाखोरी, अभिमान, तीखा-खट्टा-खाद्यवृत्ति, हारजीत-अनुदारता, बुद्धि का हठीलापन आदि होता है ।

('जीवनपराग', पृ.)

'सत्त्व में समता, शांति, आनंद, प्रेम, प्रसन्नता, स्थिरता, मुलायमता, निराग्रह, सरलता, सत्यप्रियता, क्षमा, करुणा, नम्रता, निर्दोषता, अभय, अहिंसा, इन्द्रियदमन, दान, शास्त्राभ्यास, त्याग, निर्लोभता, अद्रोह, अविचलता, कोमलता, न्याय, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, भक्ति, आरोग्य, शक्तिप्रद-खाद्यवृत्ति, सहिष्णुता, सर्वभूतहितरतरूप, बुद्धिशाली, सप्रमाण मन, बुद्धि और सौन्दर्यरस-वृत्ति से प्रेरित संकल्पशक्ति, आत्मसंयम, संस्कारिता, सप्रमाणता, मध्यम मार्ग आदि होता है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा ने तमस, रजस और सत्त्व गुणों की रचना समझाई है । तमस, रजस और सत्त्व के कौन-कौन से तत्त्व हैं, कौन-कौन से लक्षण हैं, उसकी सरल समझ दी है । व्यक्ति इस समझ के आधार पर स्वयं का पृथक्करण करके तमस और रजस का आधिपत्य घटाकर सत्त्व की ओर का खिंचाच पैदा कर सकता है । तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में होते हैं ही, परन्तु उसका प्रमाण अलग-अलग होता है ।

श्रीमोटा समझाते हैं कि 'तमस' में प्रमाद, आलस्य और निर्बलता या शिथिलता का प्रभुत्व होता है । यानी कि तमस को हटाने के लिए वेग, गति और शक्ति के लक्षण रखता रजसप्रधान गुण विकसित करना होगा । यानी कि रजस के गतिशीलताभरे क्रियाधर्म को व्यक्ति के प्रत्येक कर्म, व्यवहारवर्तन, संबंध, वृत्ति आदि में और ध्येयाकार वृत्तिओं में स्थिर करना पड़ेगा । ऐसा गतिशीलक्रियाधर्म (रजसगुण) निभाते निभाते या विकसित करते करते सज्ञानमय चेतनाभरी जागृति निर्माण हो जो समतायुक्त प्रसन्नता प्रकट करे तो उसे सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव हुआ कहलायेगा । संक्षेप में, प्राणप्रकृति में तमस, रजस और सत्त्व का सांमिश्रण होता ही है, परन्तु एक गुण के आधार पर दूसरे गुण का प्राकट्य करने तीसरे गुण का शमन करना पड़ता है । तीन गुणों में से पार होकर अंतिम सत्त्वगुण में जीवन बिताना विकसित करना पड़ता

होता है । श्रीमोटा तो यहाँ तक बतलाते हैं कि 'सत्त्वगुण के भी गुलाम नहीं होना है ।' ('जीवनपराग', पृ.) यानी कि सत्त्व को उत्तम, रजस को मध्यम और तमस को कनिष्ठ कहा गया, तब भी 'सत्त्व' गुण के प्रति भी आसक्ति रखनी नहीं है । तीनो गुणों में से समझ, ज्ञानभक्तिपूर्ण रूप से, भावनापूर्ण रूप से पार होकर व्यक्ति को 'गुणातीत' होना है ।

विद्यार्थी या व्यक्ति का व्यक्तित्व मापने के लिए व्यक्ति मापन के उपकरण जैसे कि पहचान सूची, संशोधनिका प्रश्नावलिओं, प्रक्षेपण, प्रयुक्तिओं, प्रसंग-कसौटिओं (सिच्युएशनल टेस्ट्स), साइको-ड्रामा, रोल-प्लेईंग आदि का उपयोग होता है । श्रीमोटा ने बतलाये हुए त्रिगुण और उसकी विशेषता या उपलक्षण जो सचमुच गीताजी में वर्णित हैं उसे लक्षित करके, व्यक्तित्व का कोई भारतीय सिद्धांत (थियरी) रचकर, व्यक्तित्व मापन क्षेत्र में खास एवं मूलभूत प्रदान कर सके। अभी तो मनोविज्ञान एवं शिक्षणक्षेत्र से केटल, आइझेन्क, गिल्फर्ड आदि के सिद्धांत आधारित कसौटिओं के विशाल प्रमाण में उपयोग होता है ।

सत्त्व, रजस और तमस इन तीन गुणों में ही सारे समाज को बाँट नहीं सकते हैं । एक ही व्यक्ति में अमुक बाबत में तामसिक गुण हो (उदाहरण रूप, खाने की बात में), दूसरी बाबत में राजसिक गुण हो (कार्य करने की पद्धति विषयक), इस कारण से व्यक्तित्व का सिद्धान्त प्रस्तुत करके

मल्टी-वेरिएट एनालिसिस का उपयोग करके कल्स्टर एनालिसिस का उपयोग करके, वर्षों की मेहनत के बाद यह संभव हो सके उस तरफ अँगुलिनिर्देश करना रहा ।

बालकों में अच्छे, सात्त्विक प्रकार के गुण का विकास करने में शिक्षक अकेला कुछ नहीं कर सकता है, केवल शिक्षक पर उसका भार नहीं डाल सकते हैं । इसमें सबसे अधिक जिम्मेदारी माता और उसके बाद मातापिता की साझेदारी, कुटुंब, पड़ोसिओं, शाला, समाज और सरकार की क्रमशः हो जाती है । नूतन भारत का सर्जन करने के लिए यह बुनियादी बात है । इक्कीसवीं सदी में भारत में रामराज्य की स्थापना करनी हो तो उसकी तैयारियाँ अभी से करनी होगी । व्यक्तित्व के विकास में बालक के प्रथम पाँच वर्ष मनोवैज्ञानिकों ने बहुत महत्त्व के माने हैं । यह बतलाता है कि अच्छे गुण बालक में खिले इसके लिए मातापिता एवं कुटुंब के सदस्यों को ही गंभीर रूप से अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करनी चाहिए ।

श्रीमोटा ने विविध गुणों की समझ दी, 'गुणलक्षी शिक्षा' की आवश्यकता को समझाया है । गुणों में ही जीवन टिकता है । एवं गुण के कारण ही जीवन की आध्यात्मिकता विकसित होती है, जो आत्मा के पूर्णविकास के लिए अनिवार्य है । **गुणरहित शिक्षा समाज को 'समस्याओं' के सिवा कुछ नहीं दे सकती ।** श्रीमोटा का अनुभव की कसौटी से

कसा हुआ चिंतन गुणलक्षी निर्माण के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक मानते हैं । बुद्धि की तीव्रता ने अणुबम्ब और रासायणिक शस्त्रों का निर्माण किया जो गुणहीनता के कारण से आज समग्र विश्व के लिए भयजनक बने हैं । **गुणों का संवर्धन मानवी का हृदय और मन विकसित करता है ।** जीवन का आनंद संतोष में छिपा हुआ है । परन्तु संतोष तो मन और हृदय की सत्‌वृत्ति में समाया हुआ है । हृदय और मन की सतवृत्ति गुणों के विकास पर निर्भर है । ऐसे जीवन की सच्ची प्रसन्नता, सच्चा आनंद, सच्चा संतोष, गुण में होने से श्रीमोटा गुणवान बनने को कहते हैं । इसके लिए जीवन के विकास के लिए आवश्यक ऐसे गुणों का जैसे कि आत्मविश्वास, जिज्ञासा, संयम, एकाग्रता, पुरुषार्थ, सहिष्णुता, निर्भयता, त्रिविध गुणों के बीच समन्वय आदि रखने का कहते हैं ।

गुणशास्त्र के नियमों के आधार पर प्रत्येक गुण दूसरे एक गुण पर आधारित है । एक गुण अपनाने के साथ-साथ छोटे बड़े अनेक गुण अपनेआप आते रहते हैं । श्रीमोटा ने इस बात को समर्थन देकर आत्मविश्वास, जिज्ञासा, तमन्ना, श्रद्धा, निर्भयता जैसे आवश्यक गुणों की विशेष चर्चा की है । ये सभी गुण नेतृत्ववादी गुण हैं । श्रद्धा के साथ धीरज, संयम, विवेक अपने आप आयेंगे । निर्भयता के साथ श्रम, साहस, शांति, प्रसन्नता आयेगी ही । 'आत्मविश्वास' तो अनेक गुणों

का उत्पत्तिस्थान है । इससे ही प्रस्तृत विषयांग में सभी गुणों का विवेचन न करते श्रीमोटा ने जिन गुणों को विशेष लक्ष में लिया है, उसकी ही चर्चा शुरू की है । (यद्यपि इसमें सभी गुण प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से आ ही जाते हैं ।)

इसके अलावा प्रकृतिजन्य तमस-रजस और सत्त्व गुणों की समझ* श्रीमोटा ने छोटे से छोटे व्यक्ति समझ सके उतना सरल तरीका दिया है । बड़े बड़े शास्त्रो में गूढ़ अर्थो के बीच उलझता व्यक्ति श्रीमोटा की इस सरल समझ पर मात्र एक बार आँख घुमायेगा तो संपूर्ण बोध समझ सकेगा । सामान्य व्यक्ति तमस, रजस और सत्त्व गुणों से पार होकर त्रिगुणातीत हो सके और परमात्मा की प्राप्ति कर सके वैसी सुन्दर समझ आपश्री ने दी है जो सचमुच अद्‌भुत है । आपश्री बतलाते हैं कि सभानताभरी चेतनायुक्त जागृति प्राप्त करके सात्त्विक गुणों का सेवन करते करते **जीव** की शिवता में गति होती है । **शिवता निर्मित होते तमस 'सत' में, रजस 'चित्त' में और सत्त्व 'आनंद' (प्रसन्नता) में परिमाणित होता है और व्यक्ति सच्चिदानंद स्वरूप प्राप्त करता है ।**

उपसंहार

श्रीमोटा की प्रस्तुत गुणलक्षी शिक्षा समग्र शिक्षणसमाज के लिए आधारस्तंभ बने ऐसा है ।

---

* तीनों गुणों के विस्तृत अभ्यास के लिए श्रीमोटा के 'गुणविर्मश' पुस्तक का अभ्यास करना ।

शिक्षा के विविध हेतु हैं । उनमें से एक हेतु व्यक्ति में विविध पहलुओं के विकास का भी है । कोई भी समाज या देश का आधार जो भी समाज या देश के व्यक्तिओं पर है । व्यक्ति समृद्ध होगा तो देश समृद्ध होगा । व्यक्ति के निर्माण में, व्यक्ति की शिक्षा में ही समाज का निर्माण या समाज की शिक्षा समायी हुई है । **समाज अर्थात् व्यक्तिओं का समूह ।** व्यक्ति व्यक्ति के निर्माण बिना, व्यक्ति व्यक्ति के परिवर्तन बिना, व्यक्ति व्यक्ति के गढ़न बिना समाज कभी परम वैभव प्राप्त नहीं कर सकता है । व्यक्ति का जीवन बदलेगा तो ही समाजजीवन बदलेगा, **आज समाज में शिक्षित व्यक्तिओं का प्रमाण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, तब भी 'समाज' वहीं का वहीं देखने को मिलता है । शायद आज देखने को मिलता स्वार्थी और भ्रष्ट समाजजीवन कभी नहीं होगा !**

ऐसा लगता है कि शिक्षा का सच्चा अर्थ **'शिक्षा का सही कार्य मानवी के अलग अलग टुकडों को खिलाने का नहीं है । पर उसे एक संपूर्ण मानव के रूप में शिक्षा देना है ।' ('आश्रम की अटारी से', पृ.) वह भूला गया है । केवल पदवी की तरफ समाज की अंधी दौड़ देखने को मिलती है । व्यक्ति के चारित्र्य का निर्माण हो, व्यक्ति का समाजिकरण हो और व्यक्ति सच्चे अर्थ में मानव का बिरुद पाने में सक्षम हो वैसी शिक्षालक्षी**

दृष्टि का वर्तमान शिक्षण में संपूर्ण अभाव देखने को मिलता है । इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति आज मात्र 'प्राणी' रूप में जीता है । परिणाम स्वरूप संपूर्ण समाज एक प्रश्नार्थ चिह्न बन गया है ।

'ईंटों का ढेर वह मकान नहीं है, वैसे मात्र मानव-समूह यानी समाज नहीं है ।' ('जीवनपराग', पृ.) मकान बनाने के लिए प्रत्येक ईंट का योग्य निर्माण करना पड़ता है, उसके कोने काटने पड़ते हैं, उसे छोटी या समान करनी पड़े और व्यवस्थित रूप से दीवार में निश्चित स्थान पर लगाना पड़े । वैसे व्यक्ति को भी अपना पूर्ण निर्माण प्राप्त करके समाजजीवन को मजबूत करने के लिए समाज योग्य पद प्राप्त करना पड़ता है । यही सच्ची शिक्षा की प्रक्रिया है । अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि अक्षरधारी शिक्षण प्राप्त करनेवाला व्यक्ति अमानवीय व्यवहार करता है । और अनपढ़ या निरक्षर व्यक्ति व्यवहार, भावना या सेवा में एवं व्यवहारु ज्ञान में उससे कहीं अधिक श्रेष्ठता बतलाता है । इसका अर्थ ही यह कि शिक्षा अक्षरज्ञान से कहीं आगे हैं । शिक्षित व्यक्ति अभ्यस्त न हो, जब कि संस्कारवान व्यक्ति शिक्षित न हो वैसा भी हो ।

श्रीमोटा ने अपने शैक्षणिक विचार में व्यक्तिलक्षी शिक्षा के संबंध में बहुत कुछ कहा है । व्यक्ति-निर्माण वह उनका जीवनकार्य था । स्वजन और साधकों के सामने किये प्रवचनों में व्यक्ति-निर्माण का शिक्षण प्रत्यक्ष रूप में देखने को

मिलता है । स्वजनों को दिये मार्गदर्शन में, लिखे हुए पत्रों में आपश्री के निर्माणलक्षी सूचन शिक्षा के पाठों के समान है । आपश्री मानते थे कि समाजपरिवर्तन की धुरी व्यक्ति है । व्यक्ति के परिवर्तन बिना का समाज परिवर्तन अनेक प्रश्न खड़ा करेगा । व्यक्ति को अपनी अंतर्गत शक्तिओं को पहचाननी और उसका विकास करना, निराशा छोड़ के पुरुषार्थ के पथ पर चलकर भावीजीवन के लिए व्यक्तित्व का विकास करना । इसके लिए जागृति, दृढ़ निर्धार, सत्-दृष्टि एवं सद्वृत्तिओं का सहारा लेकर चारित्र्यनिर्माण करके जीवनसंघर्ष करते करते मोक्ष की ओर प्रयाण करना, महत्त्वाकांक्षा द्वारा वृत्तिओं का ऊर्ध्वीकरण करना आदि मुद्दों को ले लेती व्यक्तिगत शिक्षा की बात में श्रीमोटा के विचार निम्न अनुसार हैं-

'दूसरों को समझना त्याग करके जो अपने को ही समझने का लक्ष में लेगा तो विकास योग्य रूप से होना है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'स्वयं को पहचान, दूसरों को पहचानना छोड़ दो ।'

('मौन-एकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'जो **जीव** अपने आपको ठीक से समझ सकेगा वैसा **जीव** अमुक अंशों में दूसरों को समझ सकेगा ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'मानवी स्वयं ही अपना उद्धार कर सके ऐसा है ।'

('जीवनप्रेरणा', पृ.)

'अपने स्वयं के विकास के लिए रागद्वेष फीके करो, पूर्वाग्रह छोड़ो, सद्‌भाव, सहानुभूति रखो, दूसरों के विचार छोड़ो, अपना ही विचार करना है । दूसरों की बात बिलकुल छोड़ दो । दूसरे कोई हमारी निंदा भरी बात करें तब भी हमें कुछ न हो, इस तरह से व्यवहार करो ।'

('मौनमंदिर में प्रभु', पृ.)

हम स्वयं हमारे अपने स्वभाव और प्रकृति से दु:खी होते रहते हैं । ('जीवनदर्शन', पृ.)

'(हमारी) निर्बलताओं का स्वीकार सबल होने के लिए है । निर्बलताओं में पड़े रहने के लिए नहीं । निर्बलता में पड़े रहकर खाली आवाज लगाने का कोई अर्थ नहीं है । जिस बात में हम से हृदयपूर्वक का स्वीकार होता है, उस बात में हम पड़े नहीं रह सकते हैं । ज्ञानपूर्वक का स्वीकार उसमें से ऊपर चढ़ाता है ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'हम में भरे हुए मंतव्य, गिनती, माप, मूल्यांकन, पसंद-नापसंद, राग-द्वेष, संस्कार और नये नये संस्कारों का स्वीकार करनेवाली हमारी उच्च प्रकार की भूमिकाएँ ये सभी हमारे साथी हैं । इनमें से अब हमें नि:संग होना है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'हम में दुर्गुण हो उसे नि:संकोचरूप से कबूल करने की जाहिर ताकत प्रकट होनी चाहिए ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'अपने जीवनविकास के पंथ पर हम स्वयं ही अपने अकेले सच्चे साथी हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'भगवान ने हमें शरीर साधनरूप दिया है । शरीर के पास से खूब काम लें वह अच्छा है ।'

('धन का योग', पृ.)

'हम शरीर के सेठ हैं, शरीर कोई हमारा सेठ नहीं है ।'

('धन का योग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा व्यक्ति को केन्द्रस्थान पर रखकर विविध दृष्टिकोण से सूचन करते हैं । आपश्री के चिंतन अनुसार शिक्षा की शुरूआत 'स्वयं' की पहचान से शुरू करनी है । अपने आपको ठीक से पहचानना यह व्यक्ति के स्वविकास के लिए पूर्वशर्त है । अपने आपको समझते सीखना यानी कि स्वयं में रहे गुणदोष, रागद्वेष, पूर्वाग्रह, सद्‌भाव, आदत, बुरी आदत, मनोभाव, रुचि, आशा-आकांक्षा आदि तत्त्वों का परिचय विकसित करना । ऐसा करने से व्यक्ति में क्या क्या विशिष्ट है और क्या क्या अनिष्ट है, उसका उसे ख्याल आयेगा और स्वयं ही अपना निर्माण करने को कटिबद्ध होगा । आजकल प्रत्येक लोग दूसरा व्यक्ति कैसा है ? वह क्या करता है ? वह कहाँ जाता है ? क्यों जाता है ? उसने ऐसा ही क्यों किया ? उसकी चिंता अधिक करता है । यानी कि व्यक्ति अपने में रुचि लेना छोड़कर पराये में

ध्यान केन्द्रित करके जीवन व्यतीत करता है । ऐसा करने से क्या लाभ ?

मानवी अपना उद्धार अपने आप ही कर सके ऐसा है, वैसा बतलाकर श्रीमोटा व्यक्ति को समझाते हैं कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को कभी भी समझ नहीं सकता । जो स्वयं को समझ नहीं सकता, वह दूसरे व्यक्ति को सही रूप में समझने का दावा किस तरह से कर सकता है ? 'स्वयं' को पहचानता व्यक्ति ही अपने आप पर (यानी कि स्वयं के स्वभाव और प्रकृति पर) विजय पा सकता है ।

श्रीमोटा स्वयं की पहचान करके बैठ रहने के बदले जागृतरूप से अपनी सच्ची निर्बलताओं का स्वीकार करना है ऐसा बतलाते हैं । निर्बलता की ओर धिक्कार के भाव रखेंगे तो अपने आप के प्रति अकारण घृणा का निर्माण होगा । इसलिए स्वीकार करके सबलता प्राप्त करने को जागृत होना है । पसंद-नापसंद, मंतव्य, आदत, समझ, ऊँच-नीच प्रकार की मानसिक भूमिकाएँ यह सब आपश्री के मत से व्यक्ति के साथी हैं । व्यक्ति को इन सभी से मुक्ति पाने के लिए निःसंग होने को कहते हैं । इसके लिए राग-द्वेष फीके करने जरूरी हैं एवं मन में स्थायी हुए पूर्वाग्रह त्याग करके सद्भाव और सहानुभूति विकसित करनी यह स्वविकास के लिए आवश्यक है ।

दुर्गुणों का जाहिर में स्वीकार करने का आग्रह करते श्रीमोटा समझाते हैं कि दुर्गुणों का स्वीकार करने से हमें वैसे दुर्गुणों के लिए कोई भी आसक्ति या अभिरुचि नहीं है इसका भान होता है । 'विशेष कुछ नहीं तो दुर्गुण के सम्बन्ध में अभिरुचि तो नहीं ही है । इतने तक तो हमारा मन उस तरह से उस बात में अभ्यस्त होता है ।'('जीवनपराग', पृ.)

ऐसा जिसे भी अपने व्यक्तित्व का उच्च विकास करना है, उसे अपने आपको पहचानना पड़ेगा,जानना पड़ेगा, समझना पड़ेगा और सभानतापूर्वक उच्च कक्षा को प्राप्त करने के लिए स्वीकार भी करना होगा । संक्षेप में, अपने प्रति धिक्कार नहीं, परन्तु स्वीकार की भूमिका के साथ 'जैसे हो वैसे अपने को स्वीकार करो और जैसा बनना है उस दिशा में प्रयत्न करो ।' और इसके लिए आशा के साथ दृढ़ निश्चय करो । **यह सत्य है कि फेल होनेवाला व्यक्ति पास हो सकता है पर निराश होनेवाला व्यक्ति हमेशा फेल होता है ।** निराशा से घिरा व्यक्ति जीवन के निम्न स्तर की तरफ प्रयाण करते करते अंत में आत्महत्या तक पहुँचता है । यह श्रीमोटा के जीवन का स्वानुभव था । जीवन में आशावादी व्यक्ति ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं । पर मात्र सफलता कुछ नहीं कर सकती है, **देखे हुए स्वप्न साकार करने के लिए दृढ़ निश्चय का अद्‌भुत हथियार व्यक्ति को पास में रखना पड़ेगा ।**

निराशा के स्थान पर आशा और लाचारी के स्थान पर दृढ़ निर्धार निर्माण करने का आपश्री कहते हैं ।

'जो कोई **जीव** अपनी लाचारी की बात करता है, वैसा **जीव** जीवनविकास में कभी आगे नहीं बढ़ सकता है । जहाँ शक्ति नहीं है, वहीं लाचारी और गुलामी है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'हजारों बार निराशा भले ही उस बारे में जन्मे ;
तब भी जो जिद न छोड़े विजय वह किसी दिन पाये ।'

('जीवनस्मरण', पृ.)

'मर्द व्यक्ति कभी रुदन नहीं करता । रुदन करने से तो उलटी कायरता बढ़ती है ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'भले कटा होगा पंथ थोड़ा,
तथापि वेग उससे ही जन्मेगा ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'स्वजन को मेरी इतनी विनती है, और प्रार्थना है कि कठिनाई, विघ्न, उलझन, पहेली, उपाधि आदि आने पर कृपा करके मर्द बनना ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'कोई एक वैज्ञानिक कोई तत्त्व की खोज करने को मथता है, उसे लाखों बार निराश होना पड़ता है । तब भी वह धीरज, हिंमत, साहस खोता नहीं है । नये नये प्रयोग करता है और प्राप्त निराशाओं से वह नयी समझ और नया ज्ञान प्राप्त करता रहता है ।' ('संसार में वृंदावन', पृ.)

'मनुष्य जब स्वयं कुछ होने का निश्चय करता है, तब वह वैसा हो सकता है ।' ('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'जैसे जैसे व्यवहार में निश्चय की दृढ़ता आ जाती है, वैसे वैसे जीवन में तेजस्विता और प्राण आते रहते हैं ।'

('संसार में वृंदावन', पृ.)

'संपूर्ण आशावादी की कभी हार नहीं होती ऐसी भावना से वह युद्ध का सामना करता रहता है । उसमें से नया नया ज्ञान और बल वह प्राप्त करता रहता है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

श्रीमोटा कथित उपरोक्त विधान व्यक्तिनिर्माण का प्रत्यक्ष ज्ञान देते हैं, निराशा का सहजता से, दृढ़ता से सामना करके उसके सामने सभानता से संघर्ष करने को वे कहते हैं । छोटी छोटी कठिनाइओं में निराश होता व्यक्ति कभी प्रगति नहीं कर सकता, निराश व्यक्ति ही लाचारी और पामरता लाता रहता है, शक्तिहीन व्यक्ति ही लाचारी भोगता है । श्रीमोटा स्वजन को मर्द बनने को कहते हैं, सच्चे अर्थ में निर्भय बनने का कहते हैं । श्रीमोटा भी सिर पर हाथ रखकर बीती कहानी रोने से कुछ नहीं होगा ऐसा मत प्रकट करते हैं । जैसे वैज्ञानिक प्राप्त हुई निराशा से ही नयी समझ और नया ज्ञान प्राप्त करके प्रयत्न किया करते हैं वैसे ही लोगों को भी वैज्ञानिक की अदा से निराश हुए बिना हिंमत, धीरज और साहस प्राप्त करके पथभ्रष्ट हुए बिना ध्येयमार्ग पर सतत आगे बढ़ते रहना है ।

श्रीमोटा बतलाते हैं कि जो व्यक्ति सतत संघर्ष करता है और कहीं झुकता नहीं, उसे कृपा भी मदद करती रहती है । ऐसे व्यक्ति को विजय सामने से आकर टकराता होता है । 'पूरे अधोगति की स्थिति में भी जो आ गया है, तब भी वह अडिग रहा है, तनकर रहा है, मर्दानगी रखता है, हिंमत, तनदिही, उद्यम, साहस, उत्साह ये सारे गुण अभी तनकर से ठीक निभा रहा है, जिसने अभी सिर झुकाया नहीं है, ऐसा व्यक्ति हारता हो, तब भी कृपा उसे मदद करती है ।'

('जन्म-पुनर्जन्म', पृ.)

यह सत्य है कि कोई भी लंबी यात्रा की शुरूआत मात्र एक कदम से ही होती है । आगे बढ़कर विशालरूप धारण करनेवाली 'गंगा' उसके जन्मस्थान पर तो मात्र छोटे झरने के समान है । श्रीमोटा भी वैसा ही कहते हैं कि अडिगता से दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ो । भले पंथ थोड़ा कटा होगा, तब भी गति वहीं से आनेवाली है वह ध्यान में रखो । प्रयत्न में ही आशा को जीवित रखनी है । इससे प्रयत्न की परमसीमा पार करते रहना जरूरी है, साथ ही साथ विजय की उत्कट भावना भी रखनी ही पड़ेगी ।

निराशा छोड़कर दृढ़ निर्धारण, मजबूत पुरुषार्थ रखने के साथ साथ श्रीमोटा मर्दानगी निर्माण करने का बतलाते हैं । **श्रीमोटा की प्रार्थना है कि जीवनव्यवहार में कैसी भी उलझन आये, पहेली आये, विघ्न आये, उपाधि आये,**

कठिनाई आये तब भी मर्दानगी छोड़नी नहीं है । मन में पूरी दृढ़ता, हृदय में जोश और धीरज का धन लेकर प्रयत्नपथ पर परिश्रम करने से ही जीवन की तेजस्विता अधिक उजली होगी ।

इसके अलावा व्यक्तिनिर्माण के लिए अनेक प्रकार के आपश्री के सूचन ध्यानाकर्षक हैं, जो व्यक्तिलक्षी शिक्षा की सरल सीढ़ी समान हैं–

'कोई भी काम करने से पहले हमें सोचना है । हमें अपने में संपूर्ण विश्वास रखना है ।'

('धन का योग', पृ.)

'भूल से कभी हताश नहीं होना है । भूल के पीछे रही हुई प्रामाणिकता हमें नया दृष्टिबिन्दु दिखाकर जोरदार प्रोत्साहन देती है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'तटस्थता, समता, शांति, प्रसन्नता, जीवन के सकल व्यवहार के कर्म करते करते विकसित होते जाय यह अत्यधिक आवश्यक है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'गिरा हुआ मनुष्य स्वयं उठने का परिश्रम नहीं करे, वहाँ तक उसे कोई उठा नहीं सकता है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'Let us live in the present आज को हमें सँभालना है । आज में भूत है, भविष्य भी है ।'

('जीवनदर्शन', पृ.)

'हमारे जीवन की शोभा हमारे व्यवहार में रही हुई है ।'

('संसार में वृंदावन', पृ.)

'पसीने से कमाया हुआ जीवन को विकसित करता है ।'

('कदम-कदम पर प्रकाश', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से सूचनाएँ देते समझाते हैं, कि अपने आप में संपूर्ण विश्वास रखकर विचारपूर्वक कार्य करना यानी कि जीवनविकास के लिए आत्मविश्वास का प्रेरणासाधन व्यक्ति को हाथ पर रखना चाहिए । महान पुरुषों के इतिहास को देखते हुए यह सत्य दिखाई देता है कि वे जो कुछ बड़े कार्य कर सके, उसके पीछे कोई ताकत थी तो वह था आत्मविश्वास ।

श्रीमोटा भूलों का स्वीकार करने का बतलाकर भूलों का सच्चा पृथक्करण करने को कहते हैं । सरल शब्दो में वे समझाते हैं कि 'मनुष्य मात्र भूल के पात्र', परन्तु प्रत्येक भूल सुधारने के पात्र भी है ही । यानी कि वह भूल पुनः न हो, उसकी समझ उस भूल से ही लेनी रहती है । व्यक्ति का स्वयं विकास व्यक्ति स्वयं ही कर सकता है, अन्य नहीं । अर्थात् व्यक्ति के अपने में जीवनविकास की उत्कट इच्छा जागनी चाहिए । ऐसी प्रकट इच्छा ही व्यक्ति को जीवनध्येय देगा । निर्धारित जीवनध्येय के लिए 'वर्तमान' को पूरी तरह से जीना रहता है । श्रीमोटा कहते हैं कि Let us live in the present । अर्थात् जीवन में प्राप्त प्रत्येक क्षण का उपयोग

उच्चतम विकास के लिए करना चाहिए । वर्तमान का संपूर्ण उपयोग करते हुए आँखों के सामने जीवनध्येय रखकर शांति, प्रसन्नता और तटस्थता विकसित करते रहना, जिससे व्यक्ति का व्यवहार अपने लिए या दूसरों के लिए पीड़ारूप न हो ।

इसप्रकार, श्रीमोटा व्यक्तिगत विकास के लिए व्यक्ति को आशा के साथ का दृढ़ निश्चय निश्चित करके, उच्चतम महत्त्वाकांक्षाएँ रखकर, महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सद्‌वृत्ति तथा सुदृष्टि रखने को बतलाते हैं । जीवन पसीने (परिश्रम) से पारस बनाने को कहते हैं । भूलों से उच्च समझ प्राप्त करके, स्वयं में पूर्ण श्रद्धा और आत्मविश्वास पैदा करके भविष्य को उजला बनाने के लिए वर्तमान पूरापूरा से जीने का सूचित करते हैं ।

• • •

॥ हरि:ॐ ॥

११. जीवनविकास के लिए आजीवन शिक्षण

जीवन की शुरूआत के साथ ही शिक्षा का भी प्रारंभ होता है, जो आजीवन चालू ही रहती है । जीवन पूरा होने पर शिक्षा पूरी होती है । यानी कि मानवजीवन के आयु का छोटे-से भाग का यह कार्यक्रम नहीं ही है पर जन्म से मृत्यु तक आजीवन चलनेवाली निरन्तर प्रक्रिया है । **शिक्षा अर्थात् जो शिक्षित करे वह ।** जीवन जीते जीते संपर्क में आते व्यक्ति, प्रकृति और समाज के पास से प्राप्त होते विचार, ज्ञान या अनुभव जो निर्माण के लिए उपयोगी है, उन सभी को शिक्षा के मोती कह सकते हैं ।

आज संपूर्ण विश्व में 'जीवनविकास के लिए आजीवन शिक्षण' स्वीकृत बना है । शाला, महाशाला या युनिवर्सिटी में दिया जाता शिक्षण यह तो एक मात्र अंश बराबर है । मानव को जीवन जीने के लिए चाहिए पर्याप्त शिक्षण केवल विद्यार्थीकाल तक ही सीमित न रहकर जीवनभर चलता रहता है । श्रीमोटा भी जीवन को केन्द्र में रखकर, मानव के सर्वांगी विकास के लिए आजीवन शिक्षण की बात करते हैं । जीवन में प्राप्त होते प्रसंगों से और प्राप्त होने अनुभवों से समझ का ज्ञान प्रकट करके 'शिक्षण' ग्रहण करके जीवनविकास करते जाँये इस तरह से 'आजीवन शिक्षा' प्राप्त करते रहने से ही

जीवन को सफलता मिल सकती है । इसप्रकार, श्रीमोटा के चिंतन अनुसार प्रत्येक परिस्थिति, संसार, प्रसंग, अनुभव आदि आजीवन शिक्षा देते मुख्य माध्यम हैं । **संक्षेप में समस्त मानवजीवन शिक्षण है और शिक्षण ही जीवन है ।**

मानवी का जन्म कुटुंब में होने से आजीवन शिक्षा का श्रीगणेश 'घर' से ही होता है । उसके बाद वह पड़ोस, मित्र, संगेसंबधी, शाला-कॉलेज, सामाजिक समूह, सांस्कृतिक समूह, विविध मंडल, पुस्तकालय आदि के संपर्क में आते नये अनुभव प्राप्त करके बहुत सारा सीखता है । श्रीमोटा का जीवनचिंतन कहता है कि 'जीवन में प्रत्येक कदम पर नया नया सीखना है । प्रत्येक परिस्थिति विकास के लिए है । यदि (साधक के) उस वस्तु के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव उस प्रकार के विकसित हो तो ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.) **शिक्षण एक संस्कार प्रक्रिया हैं ।** मानवी जाने अनजाने अपने चारों तरफ घिरा हुआ समाजवृत्तों से कुछ न कुछ ग्रहण करता ही रहता है । माता-पिता, सगे-संबंधी, सहपाठी, अग्रपाठी, गुरुजन-महाजन, समाज के नेता, संत-महंत आदि सभी का व्यक्तित्व एक शिक्षक के रूप में काम करता होता है । मानवी इन सभी के संपर्क में आने से चर्चा-विमर्श और आचार-विचार द्वारा सीखने की प्रक्रिया करता ही होता है । इस प्रकार शिक्षा यह जीवनव्यापी है, जो व्यक्ति का साहजिक विकास संभव बनाकर उसे जीवन जीने योग्य बनाती है ।

इसप्रकार, आजीवन शिक्षा पूर्णजीवन जीने के लिए की तैयारी है, जो जीवन की पूर्णता की ओर गतिमान होती है । 'जीवनविकास के लिए आजीवन शिक्षण' की समझ देते हुए श्रीमोटा के विचार निम्न अनुसार हैं (परिस्थिति के संदर्भ में) –

'हमें एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाना हो तो हम जिस स्थिति में हों, वह स्थिति हमें बहुत बहुत चुभनी चाहिए ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'जिस स्थिति में पड़े हैं उस स्थिति में ही और उस स्थिति से ही हमें अपना विकास करना है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'जो भी परिस्थिति में हमें अपने आप अपना विकास साधना है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'जीवन में अनेक प्रकार के संयोग, परिस्थिति और शरीर की दशा अलग-अलग प्रकट हुआ ही करती है, उसे सानुकूल होकर व्यवहार करना दिल में प्रभुकृपा से व्याप्त हो सके, उस मानवी को उसमें भी समाधान प्रकट हो सकता है ।'

('आ मिले वह अवसर', पृ.)

'हमारे पथ में पीछे पड़ने जैसा कुछ है ही नहीं, यदि हमें प्राप्त प्रत्येक परिस्थिति और संयोग का उपयोग हमारी गति में कर लेना हमें आता हो तो ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'जीवन मिला है वह उत्तम होने के लिए, कटिबद्ध होने के लिए ।' ('धन का योग', पृ.)

'जीवन की परिस्थिति में से नवचेतन और नवजीवन की आशा का अंकुर उगाने और उस प्रकार का पुरुषार्थ जगाने और पुरुषार्थ करने ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'मैं तो किसी को भी किसी में से भाग जाने को नहीं कहता । जो जो अपने आप सिर पर आ पड़े, उसका तो सहज स्वीकार करना हो, परन्तु उसमें हमारी दृष्टि अपने आपके विकास की होनी चाहिए ।' ('कदम-कदम पर प्रकाश')

सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य ऐसा समझता होता है कि 'व्यक्ति' मात्र परिस्थिति के अधीन है । 'यानी कि व्यक्ति कुछ कर नहीं सकता । व्यक्ति संयोगों का गुलाम है आदि आदि ।' श्रीमोटा ऐसी बात का समर्थन नहीं करते । उपरोक्त अवतरणों में आपश्री परिस्थिति से शिक्षा ले सकें अथवा स्वयं का विकास कर सकें इस बात को भारपूर्वक समझाते हैं । उनकी सूचना अनुसार जिसे भी ऊर्ध्वविकास करना है, उसे अपनी वर्तमान स्थिति दुःखदायी लगनी चाहिए । ऐसा होगा तभी परिवर्तन का अवकाश खड़ा होगा ।

प्रत्येक परिस्थिति का जीवनविकास के लिए स्वीकार करने को वे बतलाते हैं । जो परिस्थिति, संयोग अथवा जो दशा प्राप्त हुई है, उसमें से ही विकास की गति करनी है । ऐसा जीवित भान व्यक्ति में प्रकट होता है । प्रत्येक परिस्थिति का हकारात्मक भाव से स्वीकार करके उससे ही नवचेतन और नवजीवन की आशा का अंकुर उगाने का भगीरथ

पुरुषार्थ करने का आपश्री बतलाते हैं । यानी कि **परिस्थिति में से ऊबना नहीं या भाग खड़ा नहीं होना है, परन्तु नवजीवन अथवा नवचेतना पाने के लिए उसका सहज स्वीकार करना है ।** प्रत्येक परिस्थिति, संजोग, प्रसंग के साथ कुछ न कुछ सीखने की दृष्टि से संबंध बांधने में आये तो परिस्थिति शिक्षा देती एक प्रक्रिया हो सकती है । आजीवन शिक्षा प्राप्त करने के लिए परिस्थिति का शिक्षणहेतु से स्वीकार करने की आदत व्यक्ति के ऊर्ध्वविकास के लिए नींव बने ऐसा है ।

'मनुष्य प्राप्त संयोग और प्रसंगों में कायर बनकर उसमें ही निर्बलता दिखलाये तो वह अधिक से अधिक निर्बल होता जायेगा । संयोग प्रसंगों का हेतु जो **जीव** जानता है, उसके लिए संयोग और प्रसंग सद्‌गुरु है, उन संयोग-प्रसंग से वह सीखता है ।' ('संतहृदय', पृ.)

'जीवन की कठिन से कठिन कसौटी में और उसके प्रसंगों में जीवन की निरंतर बुनावट लगातार बुनती जाती है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'सहीसलामती की पकड़ में रहकर के जो कुछ होता हो वह करना, ऐसी आदत हम सभी को जो पड़ी है, उसे छोड़ देने के यदि प्रसंग आये तो उसे प्रभुकृपा से मौका गिनकर स्वागत करना है ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'जीवन में बनते प्रसंगों से जो **जीव** अपने मार्ग का नया पाठ सीख लेता है, उसे उस मार्ग की कुशलता बढ़ती है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'कठिनाई, विपत्ति, उपाधि, उलझन, अशांति में जो *जीव* हिंमत, धीरज रखकर टिके रहता है, वह मर्द है । उस समय ही जीवन का जोश कैसा और कितना है, उसकी समझ आ जाती है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'हमें चेतावनी देने के अनेक प्रसंग भगवान हमें जीवन में देते हैं । अनेक बार संघर्ष में रख देते हैं । हमारी प्रकृति हमें वैसी दशा में रख देती है । परन्तु ऐसे प्रसंगों से अपनी प्रकृति का सच्चा दर्शन होता है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'प्रसंगों से यदि हम समझ की आँख खोलें, तो उसमें से बहुत समझने और अनुभव करने को मिलता है । प्रत्येक प्रसंग में जीवननिर्माण के लिए का हेतु है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'जिसे सभी में से आड़े-खड़े सभी प्रसंगों में से अच्छा ही देखने के अनुभव करने की कला जीवन में मिली है वैसे **जीव** धन्य हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'जैसे गुरु सीखाते हैं वैसे प्रसंग भी सीखाने के लिए है । इससे प्रसंग में से सीख लेने की भावना हमें हृदय में जीवित करनी है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

इन अवतरणों में श्रीमोटा जीवन में आते या प्राप्त

प्रत्येक प्रसंग से शिक्षण प्राप्त करने को कहते हैं । जैसे व्यापारी प्रत्येक ग्राहक के साथ व्यवहार करने में व्यापार करने की नयी नयी कला सीख लेता है वैसे व्यक्ति को भी जीवन में आते सभी प्रसंगों से नया पाठ सीख लेना है । यदि कायरतापूर्ण निर्बलता से प्रसंग का स्वागत करेंगे तो व्यक्ति की निर्बलता में बढ़ोतरी ही होगी, इसलिए प्राप्त प्रसंग के पीछे का गूढ़ हेतु ध्यान में रखकर प्रसन्नतापूर्वक प्रसंग में शामिल होकर प्रसंग यह प्रभु की कृपा है ऐसा मानकर कुशलता बढ़ाने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए ।

श्रीमोटा समझाते हैं कि मनुष्य की मर्दानगी, हिंमत और धीरज का सच्चा मूल्यांकन कठिनाई, उपाधि या अशांति के विविध प्रसंगों में ही होता है । यानी कि प्रत्येक प्रसंग जीवन का जोश बढ़ाने आता है, ऐसी समझ विकसित करने से जीवन का शिक्षण अधिक मजबूत बनता है । आपश्री के मतानुसार प्रसंगों की श्रृंखला जीवन की बुनावट बनती जाती है । यह जीवनबुनावट अधिक मजबूत बने, उसके लिए प्रसंग के प्रति का शिक्षालक्षी अभिगम व्यक्ति के निर्माण के लिए आशीर्वादरूप है । कारण कि प्रसंग के कारण व्यक्ति के गुणों की जाँच होती है । प्रसंग की मदद से ही व्यक्ति अपनी प्रकृति का पृथक्करण करके अच्छे खराब तत्त्व जान सकता है । प्रसंग से ही समझ की आँख खुलती है । जीवन के अनुभवों का स्तर प्रसंगों से ही मजबूत बनता है । इसलिए

तो श्रीमोटा बतलाते हैं कि 'प्रत्येक प्रसंग में जीवननिर्माण कार्य के लिए हेतु है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'जीवन में प्रसंग के सिवा किससे हम गढ़े जा सकते हैं ? इससे प्रसंगों में तो गुरु विराजमान है ।' ('जीवनसोपान', पृ.) यानी कि जैसे गुरु ज्ञान देते हैं, गुरु अंधकार दूर करके अनुभव का प्रकाश देते हैं, गुरु की तरह प्रत्येक प्रसंग भी प्रत्यक्षरूप से कुछ न कुछ सीखाता है । प्रसंग से ही व्यक्ति में गुणों की तीव्रता बढ़ती है । 'अन्याय, दुःख, त्रास आदि प्रसंगों में वह वह प्रसंग जीवन के निर्माण के लिए परम कृपा से मिले हुए हैं । अमुक अमुक गुण-धीरज, सहनशीलता, उदारता, सहिष्णुता-ऐसे अनेक गुण विकसित करने के लिए वैसे प्रसंग प्राप्त हुए हैं । ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानभान **जीव** रख सके तो वैसे प्रसंग में उसे बहुत शिक्षण मिल सकता है ।' ('जीवनसोपान', पृ.) अर्थात् प्रसंग की सहायता से व्यक्ति गुणवान भी बन सकता है ।

इसप्रकार जीवन में मिलते छोटेबड़े प्रत्येक प्रसंग के पीछे भगवद् हेतु समाया हुआ है ऐसा श्रीमोटा बतलाकर प्रसंग से उच्च शिक्षा ग्रहण करने का आग्रह करते हैं ।

संसार पाठशाला एवं प्रयोगशाला की इससे पहले जो चर्चा की है, वह और प्रस्तुत मुद्दा-प्रसंग (यानी शिक्षक) के बीच बहुत ही साम्य है । वहाँ पूरे संसार को अखिलरूप गिनकर चर्चा की है । जबकि यहाँ संसार या जीवन में आते

प्रसंग, घटना का अक्षरूप से लेकर जीवन जीने के तरीके (Style of Life) में परिवर्तन होता रहता है- होते रहना चाहिए और कदम आगे बढ़ाने चाहिए उस पर भार रखा हुआ है । यही मुख्य अंतर है । प्रत्येक के जीवन में अच्छे-खराब प्रसंग, घटना आते ही है । उसके प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण किस प्रकार का है, उस पर व्यक्ति की प्रगति का, कुछ नया सीखने के अनुभव करने का आधार रहा हुआ है । एक ही प्रसंग एक व्यक्ति को निम्न कक्षा में ले जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति उसमें से अलग अर्थ निकालकर जीवन सुधार लेता है । बहुत बार एक छोटा-सा प्रसंग या किसी व्यक्ति द्वारा कहा हुआ बोल मनुष्य का जीवनमार्ग बदल देता है । जैसे कि, बिल्वमंगल से सूरदास जैसे भक्त का प्रादुर्भाव वैसे ही भाभी के वचन से घर छोड़कर गोपनाथ के मंदिर में जाकर, नया जीवन जीनेवाले नरसिंह मेहता । ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास के पास हैं । खराब प्रसंग से भी अच्छा अर्थ निकालना यह सरल बात नहीं है । कैसा भी प्रसंग हो पर उसका हेतु तो मनुष्य को आगे धकेलने का 'प्रबल' रूप में उपयोग होता है यह देखना जरूरी है । इस तरह से जीवन के प्रसंग मौन परन्तु निष्ठावान शिक्षक का काम करते हैं, उसमें से यदि व्यक्ति को सीखने की दानत हो तो ।

आजीवन शिक्षा के विविध माध्यमों में श्रीमोटा अनुभव को भी उच्च प्रकार की शिक्षा मानते हैं । अनुभव आधारित

शिक्षा संबंध में उनके विचार निम्नानुसार हैं –

'अनुभव का ज्ञान जीवन के वर्तनव्यवहार से हमें विकसित करना है और पाना है ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'जो वस्तु हजार बार लिखे या समझ देने पर भी न हो सके, वह इस प्रकार के अनुभव से प्राप्त हो जाती है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'समझ किसी के समझाने से मिले और अनुभव से उगे इन दोनों के बीच बहुत अंतर है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'जीवन अर्थात् अनुभव का अमृत ।'

('जीवनसंदेश', पृ.)

'अनुभव आधार बिना का होना चाहिए, यानी कि स्वयंभू प्रकट किया हुआ होना चाहिए ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'अनुभव से जो सीखता रहता है, उस अनुभव से स्वयं ही खींचकर निकालता है, उसे कभी पीछे पड़ना नहीं होता है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'अनुभव ऐसा होना चाहिए कि उस अनुभव से मिला ज्ञान हृदय में से खिसक न जाय ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'बुद्धि को भी अनुभव के आधार की जरूरत होती है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'अनुभव तो तब आता है कि जब उसके पीछे हम अपने हेतु को प्रत्येक कार्य में जीवन्त रखें ।

('जीवनपराग', पृ.)

श्रीमोटा 'अनुभव' को एक शास्त्र के रूप में बतलाते हैं । उनके चिंतन अनुसार जीवन के प्रत्येक अनुभव को शिक्षण वह सकते हैं । ऐसे अनुभव का शिक्षण आजीवन शिक्षा के समान है । कारण कि अनुभव का ज्ञान जीवन के वर्तनव्यवहार में से मिलता रहता है ।

श्रीमोटा समझाते हैं कि 'अनुभव' का ज्ञान इतना तो सचोट होता है कि जो हजार बार समझाने से समझ में न आये पर मात्र अनुभव से तुरन्त ही समझ आता है । जीवन में आते विविध प्रसंग और उन प्रसंगों से मिलते अनुभव शिक्षण की श्रृंखला खड़ी करते हैं, जबकि इसके लिए व्यक्ति को शिक्षालक्षी दृष्टि रखनी होती है । ऐसी शिक्षालक्षी दृष्टि के सामने जो अनुभव प्राप्त होता है, वह आधार बिना का, पूर्वाग्रहरहित किसी भी करण या निसबत बिना का स्वंयभू होना जरूरी है तो ही उसमें से शिक्षण मिल सकता है । पूर्वाग्रह या धारणाओं के अधीन प्राप्त किया जाता अनुभव जीवनविकास के लिए मार्गदर्शक नहीं होता ।

श्रीमोटा की व्यक्तिगत जीवनसाधना में 'अनुभव' का शिक्षण अधिक तेजस्वी था । विविध गुणों को विकसित करने के लिए विविध अनुभवों का सहज स्वीकार करने को वे कहते हैं । वे तो जीवनविकास के लिए अनुभव को ही शास्त्र मानते हैं । 'जीवन में अनुभव को ही शास्त्र माना है ।' ('जीवनसंदेश', पृ.) अनुभव का शास्त्र इतना विशाल

है कि अनुभव से प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरे विविध अनुभव पाने के लिए उपयोगी होता है । यानी कि अनुभवों की श्रेणी जीवनशिक्षा की श्रेणी में रूपान्तर होकर आजीवन शिक्षण प्राप्त करता व्यक्ति जीवनक्षेत्र के सभी मार्ग पर कभी पीछे नहीं पड़ता ।

श्रीमोटा जीवनविकास के लिए आजीवन शिक्षा लेते रहने को कहते हैं । जीवन के व्यवहार, जीवन में आते व्यक्ति के साथ का संपर्क, जीवन में आती विविध परिस्थिति, जीवन में प्राप्त विविध प्रसंग, जीवन जीते हुए छोटे बड़े अनुभव आदि सभी तत्त्वों से जीवन की उच्च कक्षा प्राप्त करने के ध्येयपूर्णता पाने के लिए सतत शिक्षण लेते रहना है ।

श्रीमोटा का 'आजीवन शिक्षण' प्रचलित 'आजीवन शिक्षण' से बहुत अलग है । आजीवन शिक्षण यानी चौबीस घण्टे पढ़ना अथवा व्यवसायी कौशल्य प्राप्त करने दैनिक अभ्यास करना अथवा शिक्षण का पुनरावर्तन किया करना अथवा निरंतर शिक्षण द्वारा शारीरिक या मानसिक विकास करना ऐसा नहीं है । श्रीमोटा के मत से मनुष्य अपना जीवन ऊर्ध्वगामी बनाये, इसके लिए प्रत्येक प्रयत्न शिक्षण की सीढ़ी है ।

श्रीमोटा की संकल्पना अनुसार परिस्थिति, प्रसंग और अनुभव आजीवन शिक्षा के मुख्य माध्यम गिने हैं । परिस्थिति से किस तरह सीखें इसको समझ देते हुए वे कहते हैं, 'हमें एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तन करना हो तो हम

जिस स्थिति में हों, वह स्थिति हमें बहुत बहुत खटकनी चाहिए । उसमें एक पल भी रहने का हो तो वैसी पल इतनी वेदनायुक्त बीते कि जिससे किसी भी तरह हमें चैन न मिले, शांति न मिले । ऐसा हुए बिना एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तन नहीं हो सकता है ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.) जीवन में प्राप्त होते प्रसंगों के प्रति शिक्षालक्षी दृष्टिकोण रखने को समझाते हुए वे कहते हैं, 'प्रत्येक प्रसंग में जीवननिर्माण के लिए का हेतु है ।' ('जीवनसोपान', पृ.) **अनुभव यह तो ज्ञानोपार्जन की चाबी है ।** जीवन की वास्तविक परिस्थितिओं में अनुभव का ज्ञान, अनुभव की समझ जीवन का सच्चा परिचय करवाता है । 'तथापि जिसे सभी में से आड़े-खड़े सभी प्रसंगों से अच्छा ही देखने अनुभव करने की कला मिली है ऐसे **जीव** धन्य है ।' ('जीवनपराग', पृ.) यानी कि अनुभव के पीछे हमारे जीवनविकास के शिक्षण का हेतु जीवन्त रहना चाहिए ।

इसप्रकार जीवन की विविध परिस्थितियाँ, विविध प्रसंग और प्राप्त होते विविध अनुभवों से जीवन की सच्ची जड़ीबुट्टी, प्राप्त होती है । पर उसके लिए स्वविकासार्थ, स्वनिर्माणार्थ, शिक्षा प्राप्त करने की समझ विकसित करनी जरूरी है ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१२. श्रीमोटा और आध्यात्मिक शिक्षा

विश्व के सभी देशों में जो भी देशों के 'जीवनदर्शन', का प्रतिबिंब उसकी शिक्षा के तत्त्वदर्शन में प्रतिबिंबित होता रहता है । भारतीय 'जीवनदर्शन', अनुसार जीवन का अधिष्ठान 'अध्यात्म' है; जीवन का केन्द्र 'आध्यात्मिकता' है । इसीसे भारत के शैक्षणिक सूत्रों में सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है - *'सा विद्या या विमुक्तये ।'* **जीवन को शिक्षा द्वारा मुक्ति की ओर ले जाना, यह भारतीय मानवजीवन का स्वीकृत उद्देश है ।**

मानव यह अन्य जीवजंतु की तरह मात्र प्रकृतिवश होकर वर्तन नहीं करता । उच्च कोटि के प्राणी (कुत्ते, घोड़े, हाथी आदि) एवं मनुष्य में बुद्धि रही होती है । इससे उनका व्यवहार हमेशा प्रकृतिवश होकर एकसा नहीं होता । उनमें अच्छे-खराब का विवेक होता है, वह नया नया सीख सकता है, ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

मनुष्य तो अब्राहम मेस्लो की सौपानिक श्रेणी अनुसार क्रमशः मनुष्य में से अतिमनुष्य बनने की शक्ति रखता है । वह आत्मसाक्षात्कार कर सकता है । 'मनुष्य से अधिक ऊँचा कोई नहीं है । देवों को भी मोक्ष पाने के लिए मनुष्यशरीर धारण करना पड़ता है ।' ('जीवनकथनी', पृ.) अलबत्ता,

यहाँ आत्मसाक्षात्कार, आध्यात्मिकता के पर्याय रूप में नहीं है । परन्तु प्राचीन भारतीय प्रणालि अनुसार अव्यभिचारिणी ज्ञान द्वारा मोक्ष के द्वारा जाकर मानवी खड़ा रह सकता है । इसके साथ विज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति और धर्म जैसे माध्यम द्वारा मानवी अपना गुणउत्थान कर सकता है । जीवशास्त्रिओं ने मानवी को भले उच्चत्तम **जीव** कहा हो, परन्तु भारतीय तत्त्वज्ञान के अनुसार वास्तविक रूप से मानवी आध्यात्मिक **जीव** हैं ।

संसार के सभी सुख जैसे कि धन, भौतिक सुविधाएँ, मानसम्मान, सामाजिक प्रतिष्ठा, कीर्ति, सिद्धिओं की वरमाला प्राप्त करने पर भी मानवी अपने जीवन की अशांति और अप्रसन्नता, आध्यात्मिकता के अभाव के कारण दूर नहीं कर सकता है । भौतिक समृद्धि की रेत में लोटता हुआ अमेरिका आंतरिक शांति और सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए भारत की ओर टकटकी लगाया हुआ है । कितने ही उचक्के और अपने को भगवान कहलाते महर्षि या संत अमेरिका में आध्यात्मिक केन्द्र स्थापित करके अमेरिकन प्रजा को 'योग' के नाम पर खुलकर उल्लू भी बनाते हैं ।

अध्यात्म यह जीवन का सत्य है, अध्यात्म के शास्त्रोक्त अर्थों की चर्चा न करते हुए, शिक्षा के फलक पर देखा जाये तो उसका सरल अर्थ **'सच्ची तरह से जीवन जीना यही अध्यात्म है ।'** अर्थात् अध्यात्म यह जीवन का दृष्टिकोण है ।

विचार, समझ, अनुभव, भाव और आचरण द्वारा मनुष्य अपना स्वभाव प्रकट करता रहता है । यानी कि सच्ची तरह से जीवन जीने के लिए व्यक्ति का स्वभाव आध्यात्मिक बने यानी कि सच्चा सोचे, सच्चा समझे, सच्चा अनुभव करे और सच्चा आचरण करे आदि जरूरी है । इस प्रकार के सभी संस्कारलक्षी व्यवहारों में आध्यात्मिक शिक्षा समायी हुई है ऐसा कह सकते हैं । यानी कि **मानवी के शरीर, मन और बुद्धि को सुसंस्कारित करने के लिए व्यक्ति के जीवन को इस प्रकार के अध्यात्म के संस्कार द्वारा पूर्णता की प्राप्ति के लिए संस्कारित करना यानी आध्यात्मिक शिक्षा ।**

वर्तमान उपभोगवादी भौतिक समाजव्यवस्था के सुखों ने मनुष्य का मन जकड़ लिया है । इससे भौतिकवादी वर्तमान युग में व्यक्ति शारीरिक सुख प्राप्त करने के लिए ही जीवन व्यतीत कर रहा है । व्यक्ति अधिक से अधिक शारीरिक सुख से शुरू करके मानसिक सुख तक ही अपनी जीवनसत्ता का अनुभव कर रहा है । परिणामस्वरूप वह अपने में रहा हुआ आध्यात्मिक जीवन तथा इससे जुड़ी नर में से नारायण होने की उच्चतम संभावनाओं को बिलकुल भूल गया है । मानवी भूल गया है कि स्वयं में एक ऐसी दिव्य चेतना विद्यमान है, जो उसे सीमित भौतिक अस्तित्व के ऊपर ले जा सके वैसी है । **अध्यात्म भाव से देखें तो मानवी उसके सच्चे स्वरूप में आत्मस्वरूप है, परमात्मा का अंश है ।** परन्तु इस जगत

में आने के बाद वह रूप और नाम पाता है, तब आत्मा के साथ उसके व्यक्तित्व में दूसरे परिमाण शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार जुड़ते हैं । **शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार और आत्मा इन सभी के लक्षणों को समझकर उन सभी को सही दृष्टिकोण देना अर्थात् आध्यात्मिक शिक्षा ।**

श्रीमोटा मानते कि व्यक्ति के जीवन का व्यक्तिगत घेरा समाज, देश और विश्व को ध्यान में रखकर दिन-प्रतिदिन, वर्षोंवर्ष, बड़ा होते जाय यह जरूरी है । इसके लिए मन, बुद्धि और आत्मा की गहराईयुक्त विशालता जरूरी है । व्यक्तित्व निर्माण यह श्रीमोटा का एक मात्र रचनात्मक कार्य था । वे समझते कि व्यक्ति के जीवन को सर्वांगी स्पर्श देने एवं उसके जीवन में आत्मा का शासन निर्माण हो, इस अर्थ से इन्द्रियाँ, मन, हृदय और आत्मा को शिक्षा की अधिक जरूरत है ।

व्यवहारलक्षी शिक्षण में ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति जीवन में जो कुछ आदान-प्रदान या व्यवहार की प्रवृत्ति करता है, वह पाँच प्रकार की है । शरीर की प्रवृत्ति, प्राण की प्रवृत्ति, मन की प्रवृत्ति, चित्त की प्रवृत्ति और आत्मा की प्रवृत्ति । इन प्रत्येक प्रवृत्ति के बारे में शिक्षा जब मनुष्य को दी जायेगी, तभी वह एक संपूर्ण शिक्षा बन जायेगी । अर्थात् **पूर्ण शिक्षा के लिए आध्यात्मिकता का समावेश शिक्षा में आवश्यक है । आज के कहलाते अर्वाचीन शिक्षण में से और उसमें भी खास करके भारत में तो 'धर्मनिरपेक्षता' के दंभी**

आंचल के नीचे आध्यात्मिकता को छोड़ दिया है । हाँ, शायद ज्ञान के विस्फोट में आध्यात्मिकता को अलग विषय के रूप में शायद न सीखा सकें, परन्तु शिक्षण कार्य में आध्यात्मिकता कपड़े के तानेबाने की तरह बुना गई होनी चाहिए, **प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से आध्यात्मिकता के रंग से रंगे बिना का शिक्षण एक बिना के शून्यों की श्रृंखला हो जाती है, जिसका मूल्य शून्य है ।**

शिक्षण की नयी नीति (१९८६) में 'योग' शिक्षण को स्थान दिया है । वैसे ही लोगों की रुचि योग, प्राणायाम आदि की ओर ढलने लगी है, यह एक शुभ निशानी है । भारत में 'धर्मनिरपेक्षता' का बाह्याडंबर छोड़कर 'धर्मसहिष्णुता' को अपनाने में आये, प्रत्येक धर्म की मंजिल अंत में तो एक ही है, केवल मार्ग विविध प्रकार के, लंबेछोटे, सीधे-टेढ़मेढ़े, चढाई-उतराईवाले हैं । कोई एक धर्म दूसरे धर्म से बढ़कर है या कोई एक धर्म दूसरे धर्म से निम्न कक्षा का है वैसा मानने के लिए कोई कारण नहीं है । शिक्षण क्षेत्र में अधिक नहीं तो एकदूसरे के धर्म के प्रति आदरभाव विकसित हो, धर्मांधता को देश से निकाला जाय तो भी पर्याप्त गिना जायेगा ।

इसप्रकार, यहाँ इन्द्रियों की, मन की, हृदय की एवं आत्मा की शिक्षा संबंधी श्रीमोटा के विचार ले गये हैं । इसके अलावा स्व द्वारा स्व का निर्माण एवं नर से नारायण के आविष्कार की प्रक्रिया आदि मुद्दों को ब्योरेसहित प्रस्तुत किए हैं ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१३. प्रार्थना - शिक्षा

प्रत्येक धर्म में प्रार्थना की महिमा गायी है । **व्यक्ति के मन को स्वच्छ, शुद्ध रखने के लिए प्रार्थना यह एक उत्तम साधन है । पानी में कपड़ा धोने से उसका मैल चला जाता है, वैसे ईश्वर को अंतःकरणपूर्वक प्रार्थना करने से मन का मैल साफ हो जाता है, मन और बुद्धि निर्मल होते हैं, हृदय की पवित्रता तीव्र होती है । ऐसे मन, हृदय और बुद्धि की शिक्षा के लिए प्रार्थना यह उत्तम साधन है ।**

जीवनविकास की साधना में हृदय से की हुई प्रार्थना अधिक महत्त्वपूर्ण होती है । जीव टिकाये रखने के लिए प्राणवायु जरूरी है वैसे जीवन टिकाने के लिए प्रार्थना । इसीलिए साधु-संत, महंत और महान पुरुष अपनी दिनचर्या का प्रारंभ प्रार्थना से ही करते होते हैं । **गांधीजी को 'महात्मा' बनानेवाला उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण साधन था प्रार्थना ।** शालाओं में भी शैक्षणिक कार्य की शुरूआत प्रार्थना से ही होती है । प्रार्थना द्वारा लम्बी अवधि में उच्च प्रकार के संस्कार पड़ते हैं, जिसके द्वारा आध्यात्मिक शिक्षा की ओर कदम बढ़ा सकते हैं, यदि वह प्रार्थना दिल से प्रकट होती हो और उसमें कृत्रिमता या दैनिक यांत्रिक व्यवहार न हो तो । शास्त्रों में तो सुबह उठने पर, स्नान करते हुए, भोजन

करते हुए और निद्रागमन करते हुए कौन कौन-सी प्रार्थना करनी चाहिए उसका उल्लेख किया गया है, जिसके द्वारा व्यक्ति की संस्कारिता बढ़ती जाती है । श्रीमोटा ने भी प्रसंगोचित अलग अलग, सरल भाषा में, स्वरचित प्रार्थनाएँ लिखी हैं । जिसमें से अमुक प्रार्थनाएँ उदाहरण रूप में दी गई हैं ।

(१) भोजन करते समय

'स्वीकार करके प्रभु अल्प अर्घ्य करना शुद्धि सब कोष की,
*चेताना हृदयशक्ति मुझ **जीव** को क्या चेतना से भरी ।'*

(२) जन्मदिन के प्रंसग पर

'यह जो जन्म, शरीर का मत गिनो, वह जन्म तो पाने,
दैवीभाव प्रभु का जीवन में, उसकी प्रतिष्ठा होने ।
पाया स्थूल नहीं निरर्थकता से, यह सूक्ष्म चेताने,
ऐसा होश हुआ करे हृदय में, ऐसी हो प्रार्थना ।'

(३) हिसाब बही खाते की पूजा

(शार्दूलविक्रीड़ित)

'लक्ष्मी का उपयोग योग्य बनते शक्ति बने लक्ष्मी वह,
उसका होश जगाने जीवन में, पूजा विधि यह सही,..१
धर्म में जो खर्च हो लक्ष्मी जीवन में, सद्‌बुद्धि प्रेरित करती,
और संस्कार स्फुरित करके जीवन में आनंद फैलाती,..२
जो लक्ष्मी सुख नित्य वैभव और ऐश्वर्य दे पूर्ण ही,
वह लक्ष्मी उजला करना जीवन को वह लक्ष रहे सदा,..३

(अनुष्टुप)

परमार्थ और स्वार्थ दोनों का मेल जीवन में,
प्रेरित करने मिली लक्ष्मी, खर्च हो अच्छी तरह से ।'..४

(४) स्वजन की मृत्यु पश्चात् करने की प्रार्थना

(शिखारिणी मंदाक्रांता)

'गई हुई आत्मा को मन-हृदय से, देना शांति पूरी,
सभी तरह उसका प्रभु ! करना, सर्व कल्याण श्रीजी ।
*सभी **जीवों** के साथ गत जीवन में, जो हुआ संबंध,*
करा दो उसे सभी तरफ से, बिलकुल निश्चिंत मुक्त ।'

स्वविकास के लिए अथवा स्वनिर्माण के लिए आत्मविश्वास और आत्मबल जैसे गुण विकसित करने जरूरी हैं । श्रीमोटा ने प्रार्थना संबंधी बहुत कहा है । आपश्री के प्रार्थना संबंधी विचार शिक्षाप्रधान हैं ।

प्रार्थना के बारे में श्रीमोटा ने बहुत लिखा है, उसमें से संकलित लेखों की 'प्रार्थना' नामक पुस्तिका आश्रम में उपलब्ध है । यहाँ मात्र 'शिक्षा में प्रार्थना' मुद्दे की चर्चा की है ।

'प्रार्थना यह एक प्रकार का भावात्मक ध्यान है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'जीवन को योग्य बल, प्रेरणा, सहानुभूति, धीरज, हिंमत ऐसा ऐसा तो प्रार्थना में से मिल जाता है ।'

('कुरुक्षेत्र में धर्मक्षेत्र', पृ.)

'अंत:करण को स्वच्छ और शुद्ध रखने के लिए प्रार्थना है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'खाली खाली मुँह से प्रार्थना बोलने से वैसी प्रार्थना का उठाव और झनकार कभी उठ नहीं सकता । भरपूर वेदना प्रकट हुए बिना प्रार्थना में आर्तनाद कहाँ से प्रकट होगा ?'
('जीवनसंशोधन', पृ.)

'जीवन में अपने ध्येय को साकार करने के लिए प्रार्थना का ज्ञानभक्तिपूर्वक हेतुमूलक दृष्टि से उपयोग किया करता है वैसा **जीव** विशेष से विशेष ध्येय के प्रति एकलक्षी होता जाता है ।' ('धन का योग', पृ.)

'प्रार्थना के एकसे अभ्यास से सभी काम में कम से कम दोष होते हैं । जीवन में अच्छे विचार करने की प्रेरणा मिलती है ।' ('प्रार्थना', पृ.)

'जो प्रार्थना के हार्द में हमारा बिलकुल सच यथार्थ और समूचा दिल का जीता जागता पूर्ण हुआ पुरुषार्थ प्रकट हुआ नहीं होता, तो वैसी प्रार्थना जीवनविकास की साधना में सफल नहीं हो सकती हैं ।' ('जीवनदर्शन', पृ.)

'हमारी दैनिक हालत, दशा, विचार, भाव, कार्य आदि जैसे होने चाहिए वैसे न होते जाँय तो वह भी **उस**को सतत निवेदन किया करो । और सच्चे मार्गदर्शन के लिए गद्‌गद कंठ से प्रभु को प्रार्थना करने का रखो ।' ('प्रार्थना', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा ने प्रार्थना द्वारा जीवनविकास और स्वनिर्माण की बात पर प्रकाश डाला है । प्रार्थना को वे भावात्मक ध्यान गिनते हैं । ऐसा भावात्मक ध्यान चित्त और मन की एकाग्रता बढ़ाता है । ऐसी मन की

एकाग्रता शिक्षा की पूर्व शर्त है ! प्रार्थना यों तो हृदय का मौन है पर हृदय की संस्कारिता बढ़ाने एवं मन की चंचलता नीरव करने के लिए प्रार्थना बोली या गायी जाती है । **प्रार्थना द्वारा आत्मा को परमात्मा की उपस्थिति की अनुभूति होती है, जो दिव्य दृष्टि विकसित करने में मददरूप होती है ।**

व्यक्ति के सर्वांगी विकास के लिए जीवन में गुण विकसित करने बहुत आवश्यक है । आत्मबल, प्रेरणा, धीरज, हिंमत, श्रद्धा जैसे गुण विकसित करने के लिए प्रार्थना एक उत्तम साधन है । श्रीमोटा बतलाते हैं, 'प्रार्थना जैसा चेतनवान और बलवान दूसरा कोई साधन नहीं है ।' ('प्रार्थना', पृ.) अर्थात् जीवनविकास के लिए जीवनचैतन्य एवं जीवनबल प्राप्त करने के लिए प्रार्थना को जीवन में स्थान देना चाहिए । प्रत्येक कार्य या कर्म करते समय में प्रार्थना का भाव जागृत रहे वह जरूरी है, जिससे जीवनकर्म में सात्त्विकता और सत्यता का निर्माण हो ।

श्रीमोटा प्रार्थना को मात्र 'कर्मकांड' के रूप में स्वीकार करने के सामने चेतावनी देते हैं, और हृदय में से प्रार्थना का आर्तनाद करने को सूचित करते हैं ।

अच्छे विचार अच्छे कर्म करवाते हैं । अच्छे कर्मों द्वारा जीवन भी सात्त्विक और ऊर्ध्वगामी बनता होता है । पर ऐसे अच्छे विचार प्रकट हो, उसके लिए प्रार्थना का सातत्य आवश्यक है । श्रीमोटा प्रार्थना का लाभ समझाते हुए बतलाते हैं कि प्रार्थना के एकसे अभ्यास के कारण सभी कामों से

दोषों का प्रमाण निर्मूल होता जाता है । इसप्रकार जहाँ दोष निर्मूल हो, वहाँ असंतोष, क्रोध, तिरस्कार जैसे आसुरी गुण अपने आप निर्मूल होते हैं, जिससे जीवन नंदनवन बनता जाता है ।

मात्र पार्थना करके बैठे न रहते साथ ही साथ पुरुषार्थ करने से ही ध्येय की सिद्धि प्राप्त होती है । इस बात का अनुमोदन देते श्रीमोटा ध्येय को साकार करने भक्तिपूर्वक प्रार्थना करने के बाद पुरुषार्थ की पराकाष्ठा करने का बताते हैं । प्रयत्न और पुरुषार्थ बिना की प्रार्थना सफल नहीं होती ।

God helps those who help themselves. गजेन्द्रमोक्ष के दृष्टांत में गजराज मगर की पकड़ से छूटने का मरजिया परिश्रम करता है । उसके बाद ही गजराज प्रार्थना करते हैं, जिसके द्वारा वह मुक्ति पाता है ।

जीवन में सात्त्विकता और पवित्रता लाने के लिए *जीव*दशा की वृत्ति का जोर कम करना आवश्यक है । शरीर प्रकृति में खड़ी हुई इन्द्रियजन्य प्रवृत्तिओं को दबाने से विकृति निर्माण होती है । ऐसे संयोग में ऐसी वृत्तिओं के शमन के लिए प्रार्थना एक उच्चतम साधन है । श्रीमोटा ऐसे समय में आत्मनिवेदन से प्रार्थना करने को कहते हैं । '**जीव**प्रकार की वृत्ति से मुक्त होने के लिए कोई प्रार्थनात्मक भजन द्वारा हमारा आर्तपुकार आत्मनिवेदन भाव से श्रीप्रभु को सुनाये ।' ('प्रार्थना', पृ.) **वृत्तिओं का ऊर्ध्वीकरण** (Sublimation) **करना यह एक प्रकार की शिक्षा ही है ।**

इसप्रकार, प्रार्थना को शिक्षा के एक साधन के रूप में ध्यान में लेना है । मन, चित्त और हृदय के निर्माण के लिए प्रार्थना एक पाठ होता है । कवि नानालाल ने भी उपनिषद की प्रार्थना का सुंदर रूपान्तर करते हुए कहा है –

'असत्य से, प्रभु परम सत्य की ओर तुम ले जाओ,
महामृत्यु में से अमृत समीप हे नाथ तुम ले जाओ ।'

इसप्रकार, प्रार्थना में पूरी तरह अपने आपको सीखाने की वृत्ति प्रकट होती है । ऐसी स्वनिर्माण की वृत्ति निर्मित होना शिक्षा की शुभ शुरूआत ही है ।

प्रार्थना द्वारा अपना निर्माण करना, साथ ही साथ समाज में भी सदाचार और अच्छे काम बढें ऐसे कार्य करने यह भी एक प्रकार की प्रार्थना ही है । 'किसी की सेवा करना, अच्छे विचार के अनुसार व्यवहार करना, दूसरे अच्छे काम करना, सदाचार और परोपकारी रहना और होना, सभी के साथ सुमेल और प्रेम से रहना–यह सभी प्रार्थना की ही एक प्रकार की रीति है ।' ('प्रार्थना', पृ.) श्रीमोटा के इस अवतरण में प्रत्येक क्रिया में शिक्षा के दर्शन होते हैं । उपरोक्त चर्चा के निचोड़ स्वरूप कह सकते हैं कि संपूर्ण जीवन को सुव्यवस्थित शिक्षित करने के लिए प्रार्थना को शिक्षा में बुन लेना चाहिए ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१४. इन्द्रियों की शिक्षा

मनुष्य यह मात्र प्रकृति का एक तत्त्व नहीं है । परन्तु वह आध्यात्मिक शक्ति रखता प्रकृति का एक उत्कृष्ट सर्जन है । मनुष्य उसके सच्चे स्वरूप में आत्मस्वरूप है, परमात्मा का अंश है । उसकी आध्यात्मिकता द्वारा वह प्राणीमात्र से अलग नजर आता है । **मनुष्य अपनी छिपी हुई सूक्ष्म शक्तिओं का उच्चतम विकास करके आत्मसाक्षात्कार करे, यह आध्यात्मिक शिक्षा का मूलभूत हेतु रहा हुआ है ।** प्रवर्तमान समय में दी जाती शिक्षा मात्र 'जानकारी प्रचूर और व्यवसायलक्षी' हो गई है । वर्तमान शिक्षा रोटी कमाना सिखाती है पर कौनसी रोटी न खाये अथवा तो खाने के बाद उसे किस तरह से पचाये उस बारे में कोई भी प्रकाश नहीं डालती है । इसीसे वर्तमान शिक्षण ढाँचे में जैसे जैसे व्यक्ति उच्च शिक्षण लेता जाता है वैसे वैसे उसमें असंतोष, निराशा, अप्रसन्नता की मात्रा भी बढ़ती जाती है । अर्थात् व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो और सच्चे अर्थ में मनुष्य बने इस बात में वर्तमान शिक्षा का लक्ष्य नहींवत् है ।

जहाँ तक मनुष्यशरीर में 'जीव' है, वहाँ तक शरीर की सभी इन्द्रियाँ उसके स्वभाव अनुसार कार्यशील होती हैं । इन्द्रियों का प्राकृतिक स्वभाव यह है कि सामने आये विषय

को ग्रहण करे । इससे व्यक्ति विषय ग्राह्यता प्राप्त करता ही रहता है और अपने रागद्वेष बढ़ाकर प्रिय-अप्रिय का भेद करके दु:खी होता रहता है । 'इन्द्रियों की सूक्ष्म इच्छाएँ ऐसी तो मीठी और बलवान होती है कि संतोष हो तभी हमें सुख मिलता है । संसार के दैनिक व्यवहार में ही डूब गये मनुष्य को इन्द्रियों की ऐसी सूक्ष्म चालबाजी की समझ अनेकबार नहीं पड़ती तो फिर उसका प्रतिकार करने का तो सूझे ही कहाँ से ?' ('जीवनसंदेश', पृ.) जीवनपर्यंत 'इन्द्रियों का संयम' लाना वह कहीं सीखा नहीं होता । गांधीजी ने कहा है, '**सच्ची शिक्षा उसे मिली है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकता है ।**' ('जीवनस्मरणसाधना', पृ.)

ऐसा कहा जाता है कि 'प्राण और प्रकृति साथ में जाते हैं' तथा *'तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा ।'* अर्थात्-मनुष्य प्राण त्यागे वहाँ तक उसकी प्रकृति साथ ही रहती है, इतना ही नहीं, पर प्रकृति जीर्ण भी होती नहीं है । यानी कि मनुष्य संपूर्ण प्रकृति से मुक्त नहीं हो सकता । इसीलिए सभी तत्त्वदर्शनों में इन्द्रियों से मुक्त होने की बात न करके इन्द्रियों को जीत लेने या संयमित करने की बात को अधिक प्राधान्य दिया है । भारत की ऋषि परंपराओं में या गुरुकुल की परंपराओं में भी ब्रह्मचर्याश्रम के दौरान इन्द्रियों को नियंत्रित करने विविध प्रकार की शिक्षा दी जाती थी ।

श्रीमोटा मनुष्य को उच्चतम कक्षा पर ले जाने के लिए इन्द्रियों की शिक्षा पर भार रखते हैं । उनके शिक्षा विषयक विचार अनुसार जीवन में सत्त्वगुणों के विकास के लिए इन्द्रियों की शुद्धि जरूरी है । पाँच इन्द्रियों तथा छठी इन्द्रिय मन उत्तम प्रकार का ही चारा प्राप्त करे, इसके लिए इन्द्रियों को संयमित करना पड़ेगा, सीखाना पड़ेगा । पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के उपकरण हैं, जो आँख, कान, नाक, त्वचा और जीभ द्वारा रूप, शब्द, गंध, स्पर्श तथा रस आदि विषयों संबंधित जानकारी एकत्रित करती है, उसके बाद अनुभव प्राप्त करके, वस्तु या विषय का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करती है । यदि इन्द्रियों विकसित हुई या शुद्ध हुई नहीं होंगी तो इन्द्रियजन्य प्राप्त वास्तविक अनुभव क्षतियुक्त रहना संभव है । इन सभी कारणों से इन्द्रियों की शिक्षा आवश्यक है । श्रीमोटा के इन्द्रियों की शिक्षासंबंधी विचार निम्न अनुसार हैं –

'आज शिक्षा में शरीर का ठाट-बाट और विलास बढ़े ऐसी जानेअनजाने कोशिश होती है । उच्च गिने जाते लोगों का रहनसहन, ओढ़ने पहनने के रीतिरिवाज, आचरण विषयविकार को पोषण मिले वैसे ही हैं, ये अच्छे चिह्न नहीं हैं । कहीं भी संयम या अनुशासन की भावना जीवित ही ना हो ऐसा लगता है ।' ('श्रीमोटा के साथ वार्तालाप', पृ.)

'जगत में योग्य तरह से जीवन जीना इसका अर्थ ही यह है कि सतत जागृति हो ।' ('जीवनसंदेश', पृ.)

'हमारी इच्छाओं पर, वासनाओं पर, नित्य के व्यावहारिक जीवन पर, जहाँ तक हम विरुद्ध जा जाकर के हमारे उपयोग में उसे ले सकें ऐसी जीवन की कला हमारे में नहीं आयेगी, वहाँ तक हमारा शीघ्र विकास नहीं हो सकता ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'हमारी प्रत्येक क्रिया में राग, सुख, लहर आदि न रखें पर उसके पीछे के चेतनबल में ही लक्ष रखें तो जीभ की स्वादवृत्ति, कान की वृत्ति, नाक की वृत्ति, आँख की दृष्टि और इन्द्रियों की लोलुपता आदि का जोर एकदम घट जायेगा ।'

('जीवनपगडंड़ी', पृ.)

'कुछ भी हो तब भी जीवन में नकारात्मक पहलू को तो आँख, कान, जीभ, मन न दें तो न ही दें ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'हम जिस जिस प्रवृत्तिओं को अशुभ रूप में पहचान सकते हैं, वैसी प्रवृत्ति की ओर जब हमारी इन्द्रियाँ खिंचती हैं, तब हमें पता तो होता है कि, 'यह कार्य करने जैसा नहीं है । तब भी हमारे विरुद्ध होकर इन्द्रियाँ अपना चाहा कर जाती है । इसे रोकने के लिए सबसे पहले तो हमें संस्कार शुद्धि करने के लिए समर्थ प्रयत्न करने चाहिए ।'

('सुख का मार्ग', पृ.)

'वृत्ति अर्थात् गति । यदि हमारी सच्ची वृत्ति किसी भी प्रकार की हो, जागी होगी तो गति करवायेगी ही ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'जो कुछ हो वह भले हुआ करे, पर हम मात्र जागृति रखकर जोश, वेग, उल्लास, तनदिही और उत्साह बढ़ाया ही करेंगे ।' ('जीवनआरंभ', पृ.)

'हमें कहीं दूसरे किसी का सामना नहीं करना है, सामना जो करना है, वह तो अंतर में आंतरिक वृत्तिओं का ।'
('जीवनपराग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा प्राणगत इन्द्रियों को किस तरह से समझें, उसे किस तरह से नियंत्रित करें तथा व्यक्ति को क्या क्या ध्यान में रखना है, आदि बातें सरल अर्थ में समझाई हैं । ऐसा कहा जाता है कि *'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् भवेत द्विज ।'* अर्थात् जन्म से प्रत्येक मनुष्य शूद्र है । (शूद्र अर्थात् निम्न कोटि का) संस्कारों से वह द्विज बनता है । **संस्कार यानी शिक्षा । श्रीमोटा वर्तमान शिक्षा के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए बतलाते हैं कि आज की शिक्षा में संयम या अनुशासन कहीं देखने को नहीं मिलता ।** इतना ही नहीं, 'शिक्षित' लोग देखकर ऐसा लगता है कि विषयविकार को ही पोषने का कार्य मानो शिक्षा करती हो ! यदि शिक्षकगण (प्राथमिक से लेकर युनिवर्सिटी कक्षा के) में से उच्च कक्षा में काम करते कितने ही शिक्षक यदि घर के अंधेरे कोने में एकत्रित होकर बिभत्स चित्र देखने की मजा लूटते हों तो उनकी नेत्रेन्द्रिय जब बेटी या बहन के समान विद्यार्थीनिओं को वर्ग में पढ़ाते हुए किस दृष्टि से और किस तरह से देख

रही होंगी यह कल्पनातीत नहीं है । अमुक शिक्षकों की स्वादवृत्ति इतनी अधिक तीव्र होती है कि एक दिन यदि बाजार का न खायें तो रात को नींद भी नहीं आयेगी । इन्द्रियसंयम शिक्षकों को तो खास विकसित करना जरूरी है, कारण कि उन्हें जीवन्त बालकों के साथ काम करना है, पाँच से छ घण्टे का समय बिताना है । (कॉलेज-युनिवर्सिटी में केवल चार घण्टे) शिक्षक का जीवन—उसका वर्तन—तो पदार्थपाठरूप होना जरूरी है ।

श्रीमोटा इन्द्रियों के लक्षणों का स्वीकार करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियाँ अपने स्वभावगत व्यवहार भले चालू रखे पर व्यक्ति को सभी वृत्तिओं का उच्च समन्वय करने पर्याप्त जागृति रखनी पड़ेगी । **जागृति अर्थात् संस्कारिता निर्माण करने की साधना ।** यह स्वाभाविक है कि बाहर से आनेवाली जानकारी प्रथम तो इन्द्रियों के छोर पर पकड़ाती होती है, उसके बाद ज्ञानतंतु के दूसरे छोर द्वारा चित्त के अंदर या मन के अंदर पुनः पकड़ाती होती है । इस तरह से दृष्टि, ध्वनि, गंध, स्पर्श तथा स्वाद के सभी चित्र मनुष्य के चित्त में पकड़े जाते हैं, जो उसके बाद बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत होते हैं । बुद्धि अपनी विचारशक्ति के बल द्वारा तथा विवेक द्वारा अच्छे खराब अनुभव प्राप्त करती है । अर्थात् सभी भौतिक पदार्थ एवं संसारगत विषय इन्द्रियों के द्वारा ही प्रवेश पाते हैं । श्रीमोटा इन्द्रियों को सिखाने के लिए पूर्ण जागृति रखनी,

विचार, मनोभाव, भावना एवं चेतना का पृथक्करण करते रहना और सतत संस्कार शुद्धि करने को बतलाते हैं ।

व्यक्ति को अपनी उच्च कक्षा प्राप्त करने के लिए सतत जागृति रखनी जरूरी है । इसके लिए उसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव या ज्ञान का गहरा पृथक्करण करना चाहिए । इसके बाद जीवनविकास में उपयोगी यथार्थ व्यवहार ही स्वीकृत करके बाकी के व्यवहार, बाकी की वृत्तियाँ एवं मनोभावों को त्याग देना चाहिए । इसके अलावा आँख, कान, जीभ, नाक या चमड़ी की लोलुपता कम करने के लिए इन सभी अंगों के अंदर छिपी हुई सूक्ष्म चेताशक्ति को ही लक्ष में रखने का वे बतलाते हैं ।

श्रीमोटा इन्द्रियों को नियंत्रित करने के लिए संस्कारशुद्धि करने को कहते हैं । यानी कि कर्म, वासना, भावनाएँ, विचार, वृत्तियाँ आदि की उच्च कक्षा की छाप ही मन तक जाने दें । यों, व्यक्ति को अपने आपका प्रहरी बनने के लिए सतत जागृति रखनी है । जागृति के साथ-साथ अंतःकरण प्रसन्न रहे, निराशा न टकराये इसके लिए उत्साह और तनदिही बढ़ाने की वृत्ति विकसित करने को भी कहते हैं । संस्कारशुद्धि के लिए महान पुरूषों के जीवनचरित्र का वाचन करना, बोधकथाएँ सुननी, धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना आदि प्रवृत्तियाँ कर सकते हैं ।

श्रीमोटा कहते हैं, 'सच्ची शिक्षा का लक्ष्यबिन्दु इन्द्रियों को नहींवत् करना है और वह मुझे तो गलत नहीं लगता । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि इन्द्रियों को जड़ बना देना है ।' ('जीवनआरंभ', पृ.) यानी कि श्रीमोटा इन्द्रियों को उनके लक्षणों के साथ स्वीकार करके नियंत्रित करने की क्रिया को शिक्षा का एक लक्ष्य मानते हैं । उनके मत से जीवन में जो कुछ हो, वह भले हुआ करे पर व्यक्ति जागृत रहकर उच्च वृत्तिओं का पालन करता होगा तो वह अवश्य जीतेन्द्रिय बन सकेगा । वे बताते हैं, 'वृत्ति वह दुःख का मूल' कारण है । यह वृत्ति बदले तो दुःख भी जाय ।' ('जीवनदर्शन', पृ.) यानी कि सत्वृत्तिओं को अधिक से अधिक विकसित करनी पड़ेगी । वृत्तिओं के पीछे का उद्देश उच्च होना जरूरी है, वृत्तिओं का लक्ष जीवनविकास हो वह जरूरी है । एक बार सत्वृत्ति निर्माण हुई होगी तो आँख सत्य आकार ही बतलायेगी, कान सत्य ही सुनायेंगे अर्थात् इन्द्रियाँ सत्य अनुभव देने में समर्थ बनेगी ।

इन्द्रियों की शिक्षा संबंधी श्रीमोटा के विचार आज के इस भोगवादी समाज को सचमुच जीवनदिशा दें ऐसे हैं । समृद्धि से छलकते अमेरिका या युरोप के देशों में सभी प्रकार के इन्द्रिय सुख होने पर भी शांति या प्रसन्नता नहीं है । भौतिक साधनों से भरपूर जीवन जीनेवाले उन देशों के लोगों के पास जीवन की सात्त्विकता नहींवत् है, इसलिए अतृप्ति का

असंतोष, अनिद्रा के रोग, मानसिक असंतुलन (पागलपन), ड्रग्स विस्फोट, खून, बलात्कारों की परंपरा आदि विकसित देशों की वर्तमान सामाजिक समस्याएँ हैं । इन सब के मूल में इन्द्रियों की शिक्षा का अभाव है ऐसा कह सकते हैं । भारत भी तीव्र गति से इस दिशा में ही जा रहा है ।

श्रीमोटा के मत अनुसार एक बार इन्द्रियाँ विकसित होगी तो मनुष्य को प्राप्त होते अनुभवों से सत्य छाप ही चित्त में संग्रहित होगी, जो मानसिक संतोष पैदा करने में सरलता प्राप्त कर देगी, संतोष ही आनंद दे सकता है । यह आनंद ही जीवन की प्रसन्नता पूर्ण कर सकता है । यानी कि **इन्द्रियों के लक्षण जानने, उसकी क्रिया का पृथक्करण करना, सतत जागृति रखकर संस्कारशुद्धि द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित करके जीवन की उच्चतम कक्षा प्राप्त करना अर्थात् ही इन्द्रियों की शिक्षा ।**

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१५. मन की शिक्षा

जो मन रखता है वह मनुष्य । मानवी और मनुष्योंतर प्राणिओं में बुनियादी अंतर तो यह है कि मानवी के पास मन है । अनुभव ने समझाया है कि मानवी के व्यक्तिगत विकास में उसका मन बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग निभाता है । शरीर का संचालन मन द्वारा होता है । इसीसे कहा जाता है कि जैसा मन वैसा व्यवहार । शास्त्रों में भी मन की समझ देते हुए कहा है कि मानवी मन के द्वारा ही बँधता है और मन द्वारा ही मुक्ति (मोक्ष) भी प्राप्त करता है ।

मानवी विचारशील **जीव** है और विचारों का उद्‌भवस्थान मन है । इसी तरह मानवी के व्यवहारों का उद्‌भव विचार से होता है । अर्थात् मन जितना उत्तम उतना विचार उत्तम और जितना विचार उत्तम उतना व्यवहार उत्तम होगा । मन उत्तम तरीके से निर्माण हो, इसके लिए मन का शिक्षण या मन का निर्माण (mind making) जरूरी है । मन की शिक्षा के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित नहीं होता है । व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए अन्य शिक्षा के साथ साथ मन की शिक्षा भी जरूरी है । मन की शिक्षा अर्थात् मन को जानने से शुरू करके मन को शिक्षित करना और नियंत्रित करना तथा एकाग्र करना आदि का समावेश होता है ।

मन की शक्ति द्वारा संपूर्ण सृष्टि को अपने अनुरूप बनाने की ताकात मनुष्य रखता है । कारण कि मन का कार्यक्षेत्र अति विशाल है । इन्द्रियाँ भी मन के सहकार बिना ज्ञान संपन्न नहीं कर सकतीं । मन अनुभव की हुई सृष्टि का प्रतिबिंब बुद्धि के सामने प्रस्तुत करता है । बुद्धि चित्त के संस्कार के आधार पर और स्वयं के सजीवनता के प्रभाव से (अहंकार के प्रभाव से) अच्छा-खराब अर्थघटन करता है । अर्थात् पदार्थ कैसा है, उसका आधार मन किस तरह से देखता है, उस पर है । इसलिए ही कहते हैं कि जैसी जिसकी दृष्टि वैसी उसकी सृष्टि ।

शिक्षा एक बौद्धिक साधना भी है । जो बुद्धि के माध्यम से साकार होती है । परन्तु मन के विकार जैसे कि राग-द्वेष, क्रोध-अहंकार, पसंद-नापसंद आदि का विकृत असर बुद्धि पर पड़ते ही शिक्षा की यह साधना अधूरी रहती है । इससे मन विकारमुक्त होकर बुद्धि या इन्द्रियों के सामने सच्चा प्रतिबिंब प्रस्तुत करे इसके लिए मन की शिक्षा जरूरी है ।

श्रीमोटा ने अपनी आध्यात्मिक साधना की शुरूआत में सबसे पहला काम अपने मन को शिक्षित करने का किया था । (जिसमें से 'मन को' काव्य की उत्पत्ति हुई) श्रीमोटा पदवीधारी मनोवैज्ञानिक नहीं थे । परन्तु मन को शिक्षित करने का गहरा

और विशाल स्वानुभव रखने से आपश्री ने मन की शिक्षा के संबंध-में अत्यधिक कहा है ।

श्रीमोटा के मन की शिक्षा संबंधी विचार निम्न अनुसार है -

'मानवी में मन है, इसलिए वह मानवी है ।'

('मौनमंदिर का मर्म', पृ.)

'अच्छा या बुरा यह तो मात्र मानवी के मन की सीमा का लक्षण है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'मनरूपी देहलीज को लाँघे बिना, जीवन के चेतन के घर में हम प्रवेश नहीं कर सकते ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'मन को सही ढ़ंग से सजीवन करना है ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'मन में जो जो भाव उठें उसका पृथक्करण करना पड़ेगा ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'मन को अनेक लोग दबाकर रखते हैं, Supress कर रखें, वह ठीक नहीं है । मन को विस्तृत रहने दो और वैसा करोगे तो तुम्हें स्वयं समझ आयेगी ।'

('तद्रूप-सर्वरूप', पृ.)

'मन को शांत नीरव करने के लिए उसकी सर्व प्रकार की क्रियाओं से अलग होने की जागृति रखो । तटस्थतापूर्वक साक्षीवत् रहकर उसे नीरखने का किया करो । जो जो कुछ नकारात्मक उठे उसे फेंक दो । उसका इनकार करो ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'जीवन को कुचलने जैसा जो कुछ होता है, उसका विकृत होनापन जो प्रकट है, वह हमारे मन के नकारात्मक भाव द्वारा करके ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'मन तो ऐसे भी जा सकता है और वैसे भी जा सकता है । इसलिए यदि हम जीवन के ध्येय में पूरी तरह सावधान होकर पड़े रहेंगे तो अमुक काल के बाद मन जितनी मदद करता है, उतना दूसरा कोई नहीं करता ।'

('संसार में वृंदावन', पृ.)

'मन हमारा Best Friend (श्रेष्ठ मित्र) है ।'

('तद्रूप-सर्वरूप', पृ.)

मन हमारा बड़ा हथियार है । जो हमें बहुत उपयोगी और जरूरी है । मात्र हमारा वह हथियार हमारे कहे में आ जाय इतना ही हमें करना है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'हमें मन को सतत टोकना और उकसाना है, समेटना भी है । इस प्रक्रिया में हमें सतत जागृति रखनी है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'जब मन का गुरु मन बन जाता है, तब हमारी गाड़ी लीक पर चलने लगती है, यह भी अनुभव का नवनीत है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

'सतत कर्म में पिरोये रहना और मन को इस तरह से रोके रखना, इसके जैसी जीवन की दूसरी कोई उत्तम शिक्षा नहीं है ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा ने 'मन' का ख्याल समझाकर उसे किसलिए शिक्षित करना, किस तरह से शिक्षित करना आदि बात पर प्रकाश डाला है । श्रीमोटा बतलाते हैं कि अच्छा-बुरा यह तो मात्र मानवी के मन की सीमा का लक्षण है । यानी कि मन के आधार पर हम अच्छा या बुरा सोचते हैं । **संसार का दूसरा नाम है द्वन्द्व ।** संसार में सुख-दुःख, सत्य-असत्य, तेज-अंधकार, आशा-निराशा, पाप-पुण्य, नीति-अनीति उन सभी द्वन्द्वों के साथ व्यक्ति सतत टकराता रहता है । इस मुठभेड़ की क्रिया-प्रतिक्रिया मन पर किस किस तरह से खड़ी होती है, यह व्यक्ति को सतत सोचना चाहिए; ऐसा करने से व्यक्ति को अपनी 'जीवनकक्षा' की सच्ची समझ मिल जाती है । श्रीमोटा मन को सतत कार्य में रोकने को कहते हैं । यही बात अंग्रेजी कहावत में अलग तरह से कहा है, 'An empty mind is a devil's workshop' (निठल्ला दिमाग यह शैतान का कारखाना है ।)

श्रीमोटा जीवन का चैतन्य प्राप्त करने के लिए मन की देहलीज को पार करने का बतलाकर मन को सच्ची तरह से सजीवन करने को कहते हैं । साथ ही साथ मन को सजीवन करने के लिए मन के भावों का पृथक्करण करना, स्वयं को मन से अलग रखने की जागृति विकसित करनी तथा मन को सप्रेशन (दबाव) से दूर रखने जैसी मननिर्माण की पद्धतियाँ भी आती हैं ।

श्रीमोटा ने मन को नियंत्रित करने की बात की है । इसके लिए मन में उठते विचार, भाव या प्रतिक्रियाओं का सतत पृथक्करण जागृत रहकर करने का बतलाया है । 'हमें तो तब समझने के लिए मथना कि वह (विचार) क्यों आता है, किससे आता है, उसका मूल क्या है, वह सब हमें देखना है और ऐसे हमें उसमें गहरे उतरना है ।' ('जीवनमंथन', पृ.) और सात्त्विक प्रतिक्रियाएँ, उच्च भाव और उत्तम विचार रखकर कनिष्ठ तत्त्वों का त्याग करने को कहते हैं । मन-शिक्षा की यह प्रक्रिया को श्रीमोटा मन को 'उकसाने' और 'टोकने' के रूप में कहते हैं ।

व्यक्ति की पाँच इन्द्रियाँ जगत के पदार्थों को रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श से ग्रहण करती हैं, इन सभी क्रियाओं की अच्छी-बुरी असर पकड़ने का काम मन करता है और फिर वह सभी असरों (अनुभवों) को विचार में रूपांतर करती हैं । इसके अलावा मन प्रत्यक्ष रूप से भी अपनी ग्रहणशक्ति द्वारा अनुभव, विचार, संस्कार पकड़ने का कार्य करता है । इसलिए तो मन को छठी इन्द्रिय कहा जाता है । यानी कि प्रत्येक विचार द्वारा मन प्रकट होता रहता है । ऐसा कहा जाता है कि सामान्य मानवी उसकी नब्बे प्रतिशत विचारशक्ति तो मन की चंचलता को लेकर खोता है । इसलिए मन की चंचलता को नियंत्रित करने की जरूरत है । मन इन्द्रियों के द्वारा एवं प्रत्यक्षरूप से प्राप्त किये अनुभवों को सच्ची तरह से समझे इसके लिए मन का निर्माण बहुत

ही आवश्यक है। इसके लिए श्रीमोटा मन को सतत कार्यशील रखने का सूचित करते हैं ।

श्रीमोटा मन को मानवी का खूब ही उपयोगी हथियार (साधन) और उत्तम मित्र (Best Friend) भी गिनते हैं। परन्तु यह मित्र तथा यह हथियार मानवी के कहे में (under control) रहे वह अति आवश्यक है । अर्थात् 'मन का गुरु मन बन जाय' उस तरह से मन का गढ़न करना चाहिए। श्रीमोटा का स्वानुभव का नवनीत ऐसा कहता है कि एक बार मन को जीतने के बाद संसार की बैलगाड़ी (जीवन की) लीक (सीधे मार्ग) पर चलने लगती है। मन की नीरवता एवं मन का नियंत्रण पाने के बाद मानवी ऐसी अवस्था प्राप्त करता है कि जिसमें वह चाहे वैसा विचार ही मन में खड़ा हो और न चाहने योग्य विचार अपने आप छूट जाय अर्थात् चैतन्य का प्रकाश प्राप्त करने के लिए विचारों के उमड़ते बादल हटा सकते हैं । एक बार मन गढ़ जाये तो फिर मानवी का व्यवहार स्थितप्रज्ञ बनता है, उसे आनंद या शोक की हिचकी आती नहीं है !

मनुष्यजीवन का अंतिम हेतु है - परमात्मा की प्राप्ति करनी अथवा मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना । इस परम उद्देश्य की पूर्ति के लिए विविध प्रकार के पुरुषार्थों में मन साधने का पुरुषार्थ महत्त्व का है । जिसने मन जाना उसने दुनिया जानी । जैसे चकमक में अग्नि रहा हुआ है वैसे मन

में ज्ञान रहा हुआ है । 'लौकिक या आध्यात्मिक समूचा ज्ञान मनुष्य के मन में रहा है ।' ('जीवनकथनी', पृ.) इस ज्ञान के प्राकट्य के लिए मन की नीरवता, मन की एकाग्रता प्राप्त करनी आवश्यक है । अर्थात् मन का गढ़न जरूरी होता है । मन संचालित वृत्तियाँ-'मनोवृत्तियाँ' मानवी के व्यवहार में दिखती रहती हैं । मन द्वारा उदित होते विचार - 'मानसख्याल' व्यक्ति का विचारदर्शन प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् वृत्ति, विचार, ख्याल या व्यवहार का उद्‌गमस्थान मन है । मन मानवी का पथयात्मक बनता होने से मन की शिक्षा वह बहुत ही महत्त्व की है । प्रकाश तथा आवाज की गति माप सकनेवाला विज्ञान मन की गति नहीं माप सकता । इससे जहाँ मापन नहीं, वहाँ नियंत्रण संभव नहीं होता है । इसीलिए ही मन की चंचलता (गति) स्थिर करने के लिए ध्यान जैसे आध्यात्मिक प्रयोग ही उपयोगी होते हैं । परन्तु खूब ही तीव्र गति से जीवन जीता मानवी ध्यान आदि कर सके ऐसा नहीं है । इससे श्रीमोटा ने मन को उकसाने जागृति रखने का बार बार कहा है । 'दीपक की बत्ती की तरह सतेज जल सके उसके लिए बार बार प्रज्वलित करना पड़ता है वैसे बारबार मन को उकसाते और टोकते रहो ।' ('जीवनसंग्राम', पृ.)

श्रीमोटा मन को मित्र बनाने, मन को मन का गुरु बनाने और मन को आज्ञाकारी हथियार (साधन) बनाने के लिए सतत जागृति रखने को कहते हैं । विचार सुनते समय

या विचार करते समय, व्यवहार करते समय या दूसरों का व्यवहार अनुभव करते समय, वाणी बोलते समय या वाणी सुनते समय तथा पाँचों इन्द्रियों के विविध अनुभव पकड़ते समय जागृति का सातत्य जरूरी है, जिससे मन का संयम साधा जा सके । एक बार मन कहे अनुसार हुआ तो मन में उठते सर्जनात्मक उच्च विचार जीवन की प्रतिकूलता को भी अनूकूलता में बदल सकते हैं । इससे ही कहा गया है *'मन हो तो मालवा जा सकते हैं,'* गंगासती ने भी गाया है कि *'मेरु तो डिगे, किन्तु जिसका मन नहीं डिगे पानबाई भले ही टूट पड़े ब्रह्मांड रे'* अर्थात् मेरु पर्वत डिगे, ब्रह्मांड टूट पड़े पर जिसका मन नहीं डिगे, तभी मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

इसप्रकार श्रीमोटा मानवी की शिक्षा के लिए मन की शिक्षा को बुनियादी शिक्षा गिनते हैं । मन को जीतने (नियंत्रित करने) की बात करते हैं । इसके लिए स्वयं जागृति रखकर मन को प्रज्वलित करने, टोकने को कहते हैं । साथ ही साथ मन में उठते या पकड़ते विचारों का पृथक्करण करके सात्त्विक विचार ही ग्रहण करके मन को भी सात्त्विक बनाने का सूचित करते हैं । मन को दबाये बिना, मन को मित्र बनाकर साथ ही आज्ञांकित बनाने को कहते हैं, जिससे अयोग्य विचार, अयोग्य वाणी, अयोग्य व्यवहार से मुक्त हो सकें अर्थात् संसार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर चैतन्य का प्रकाश प्राप्त हो सके ।

• • •

॥ हरि:ॐ ॥

१६. हृदय की शिक्षा

मानवी को संपूर्ण मानव बनाने का शिक्षा का व्यापक हेतु है । मानवी के सर्वांगी विकास के लिए तन की शिक्षा, इन्द्रियों की शिक्षा आवश्यक है । **वर्तमान समय में मात्र बुद्धि या मात्र स्मृति (रटने) का शिक्षण दिया जाता है । अत: व्यक्ति के पास विशालता और गहराई का अभाव देखने को मिलता है । शिक्षा यह व्यवहार परिवर्तन करती संस्कार की प्रक्रिया है, इससे व्यक्ति का वर्तन संस्कारयुक्त बने यह देखने का कार्य शिक्षा का है ।** परन्तु हृदयपरिवर्तन बिना का वर्तनपरिवर्तन संक्षिप्त अवधि का और अस्थायी होना संभव है अर्थात् मानव के संस्कारयुक्त वर्तन की स्थिरता के लिए हृदय शिक्षित होना चाहिए ।

श्रीमोटा एक सयाने लोकशिक्षक थे और स्वजन उनके संपर्क में आते, तब विविध प्रकार के वार्तालाप होते । इस वार्तालाप में श्रीमोटा व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्ण स्वरूप में विकसित हो, ऐसे विचार प्रकट करते जिसमें शिक्षा (गढ़न) का विचार केन्द्रस्थान पर रहता । श्रीमोटा के मत अनुसार मानव के मुख्य दो तत्त्व उसके जीवनव्यवहार में प्रत्यक्ष असर करते होते हैं – एक है मन और दूसरा तत्त्व है हृदय । आपश्री ने मन के नियंत्रण के साथ साथ 'भाव' विकसित करने की

अर्थात् हृदय विकसित करने की भी बात की है । भाव और भावना बिना के जीवन में परमात्मा की नमी (अनुभूति) नहीं होती अर्थात् मानवजीवन का अंतिम हेतु 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए बौद्धिक विकास या मानसिक विकास के साथ साथ हृदय का विकास अनिवार्य है । इस बात के प्रति श्रीमोटा के विचार निम्न अनुसार है :

'हृदय वही जीवन का सच्चा मूल है । वहाँ लक्ष रख करके वहीं चित्त को एकाग्र केन्द्रित करके यदि सर्व कर्म होते जाय, ऐसी कला प्राप्त हो जाय तो **जीव** मुक्तात्मा अवश्य हो जाय ।' ('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'हमारे आंतरिक जीवन का प्रवाह सतत एकसा हृदय के आधार अनुसार बहता रहा करे, तभी जीवनविकास होगा ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'हृदय को एक अलग अनोखा और एक विशिष्ट करण है और उसकी कोई निराले प्रकार की खास समझ भी है । उसकी ऐसी समझ के साथ बुद्धि की समझ को कोई लेना देना नहीं है ।' ('धन का योग', पृ.)

'बुद्धि यह ज्ञान का करण है और मनोभाव-सहानुभूति आदि भाव का करण है । जीवनविकास के मार्ग में बुद्धि और भाव दोनों की जरूरत है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'हमारे हृदय की जैसी दृष्टि होती है, उसी अनुसार हमें

सब समझ में आता है । उसी अनुसार जाने-अनजाने हम से सारा मापा जाता है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'हमारे काम में ऊष्मा-मनोभाव हमारा अनमोल धन है । इस धन से व्यापार करते यदि हमें आये तो जैसे धूल धोनेवाला सोना निकाल लेता है वैसे मनोभाव में से हम वैसा उपयोग कर सकें ऐसा है ।' ('जीवनआरंभ', पृ.)

'हृदय को सरलता से बहता करना है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'प्रत्येक प्रकार के मनोभाव के मूल में आसक्ति रही हुई है । **आसक्ति यानी कोई किसी की तरफ मनोभाव का ममताभरा पक्षपात-मनोभाव के ऐसे ममताभरे पक्षपात से राग और द्वेष जन्म लेते हैं और उसमें से सुखदुःख के द्वन्द्व खड़े हुए ही करते हैं ।**' ('सुख का मार्ग', पृ.)

'हृदय का सचमुच आत्मनिवेदन* यदि हुआ करता हो तो वैसे आत्मनिवेदन वे बीती कहानियाँ नहीं हैं । वैसे आत्मनिवेदनों से तो एक प्रकार की शक्ति प्रकट होती है । वह हमें विशेष जागृत करती है । हमारी निर्बलता को बताती है । उसमें से सबल बनाने की प्रेरणा देती है ।'

('जीवनमंथन', पृ.)

---

* 'आत्मनिवेदन' श्रीमोटा का विशिष्ट शब्द है । स्वनिर्माण के लिए आत्मा के (स्वयं के) साथ स्वयं का वार्तालाप तथा भगवान के साथ अपने विचारों की बातचीत को श्रीमोटा आत्मनिवेदन कहते हैं ।

'यदि हमारे हृदय की दानत शुद्ध होगी और यदि हमारा प्रामाणिक प्रयत्न प्रकट हुआ करता होगा और हमारे प्रयत्न के अभ्यास में भावना से अटूटता प्रकट होती होगी तो किसी की ताकत नहीं कि हमें कोई छल सके ।'

('जीवनसंशोधन', पृ.)

'साधक को अपने आपका, विचारों, वृत्तिओं, भावों, भावनाओं और चेतना का गहरा पृथक्करण करते रहना होगा । और उन सभी को उसके यथार्थ स्वरूप में समझकर हमारे विकास में उनका किस तरह से श्रेष्ठ उपयोग कर सकते हैं, वह समझ लेना पड़ेगा ।' ('जीवनपराग', पृ.)

हृदय की शिक्षा संबंधी श्रीमोटा के उपरोक्त अवतरण हृदय गढ़न की सुन्दर समझ देते हैं । उनके चिंतन अनुसार **जीव** मुक्तात्मा अवश्य बन सकता है, परन्तु इसके लिए जीवन के सभी कार्यों में (कर्मों में) हृदय को केन्द्र में रखो । अर्थात् हृदय की समझ अनुसार व्यवहार करना जरूरी होता है । उसके लिए चित्त की एकाग्रता भी हृदय के साथ जोड़नी आवश्यक है । श्रीमोटा मन की शिक्षा जितनी ही हृदय की शिक्षा को महत्त्व देते हैं । जीवन के कोई भी प्रसंग या कोई भी घटना की सत्यता मन और इन्द्रियाँ ग्रहण करते हैं । परन्तु उसकी अनुभूति के लिए हृदय की समझ आवश्यक है । यानी कि जीवन में मात्र सत्य ही पर्याप्त नहीं है । परन्तु शिवम् और सुन्दरम् की अनुभूति भी जरूरी है । मात्र बौद्धिक विकास रखते

व्यक्ति के पास हृदय का विकास न हो तो बौद्धिक विकास में छिपे हुए संतोष को शायद न अनुभव कर सके ।

श्रीमोटा बुद्धि की समझ और हृदय की समझ के बीच भेद देखते हैं । बुद्धि को ज्ञान का करण कहते हैं, जबकि हृदय की समझ, मनोभाव-सहानुभूति, भाव आदि का करण कहते हैं । तथापि वे दोनों जीवनविकास के लिए जरूरी हैं ऐसा बतलाते हैं । बुद्धि मनुष्य के पास से उच्चतम कृति करवाती है । हृदय इस उच्चतम कृति को संस्कारयुक्त बनाता है । बुद्धि द्वारा आचरित आचार (व्यवहार) हृदय द्वारा सदाचार में परिणत होते हैं । यानी की नैतिकता यह हृदय की शिक्षा के प्रदेश का तत्त्व है । हृदय की नीतिमत्ता जितने उच्च प्रकार की उतनी हृदय की समझ भी उच्च प्रकार की रहती है । यों, हृदय की शिक्षा के लिए मनुष्य के जीवन में नैतिकता, संस्कार, समभाव, सदाचार, भावों की जागृति, प्रेम, क्षमा, पवित्रता, विवेक आदि विकसित होने जरूरी हैं ।

हृदय का प्रकटीकरण उष्मा तथा भाव द्वारा होता रहता है । श्रीमोटा इस भाव तथा उष्मा को जीवन का अनमोल धन मानते हैं । जीवन जीने के लिए इस भाव का हकारात्मक उपयोग करने को कहते हैं । हृदय की भावना द्वारा जीवन को उच्चतम आकार देना है । जैसे सूखी मिट्टी को आकार नहीं दे सकते, उसे भिगोनी पड़ती है वैसे जीवन को भी हृदय की भावनाओं से भिगोना पड़ता है । श्रीमोटा साथ ही साथ

चेतावनी देते हैं । 'ऊष्मावाले भाव के साथ बहते जाना यह भी इष्ट तो नहीं ही है ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.) यानी कि मन, चित्त और बुद्धि द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे मनोभाव, भावनाएँ और उष्माओं का स्पर्श देना है । जिससे ज्ञान की अनुभूति हृदयप्रवेश को होते मनुष्य का हृदय समुद्र के समान गहरा तथा आकाश के समान विशाल बने और *'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे'* की सच्ची अनुभूति संभव बने ।

श्रीमोटा चेतावनी देते हैं कि प्रत्येक प्रकार के भाव के मूल में आसक्ति रही हुई है । ऐसी आसक्ति ही सुख-दुःख जैसे द्वन्द्व खड़े करती है । इससे हृदय की भावनाओं को शुद्ध रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए । इसके लिए वे वृत्तिओं, भावों तथा भावनाओं तथा चेतना का गहरा पृथक्करण करते रहने का बताते हैं । प्रत्येक भाव या वृत्ति का उसके यथार्थ स्वरूप में समझने के लिए इस प्रकार का पृथक्करण उपयोगी होता है । हृदय को विकसित करने के लिए हृदयप्रवेश के साथ जुड़ी हुई भावनाओं, वृत्तिओं और मनोभावों को शिक्षित करना जरूरी है ।

इसके अलावा श्रीमोटा आत्मनिवेदन द्वारा हृदय को शिक्षित करने को कहते हैं । उनके अभिप्राय अनुसार हृदय से होता सचमुच का आत्मनिवेदन हृदय की शक्ति बढ़ाता है, हृदय की पवित्रता तथा शुद्धि भी बढ़ाता है । अतः मन, चित्त और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते ज्ञान या अनुभव हृदय में उद्दात

भावना विकसित करते हैं अर्थात् हृदय का क्षेत्र सच्चे अर्थ में भावनामय तथा संस्कारमय बनता है । इस प्रकार शुद्ध दानत से हृदयनिर्माण का कार्य होता होगा तो व्यक्ति जीवन में कभी ठगा नहीं जाता । (न ठगाने का सूक्ष्म अर्थ देखें तो व्यक्ति को जीवन में जो कुछ ज्ञान, अनुभव या विचार प्राप्त होता है, उसकी सच्ची समझ हृदय तक पहुँचती है ।)

श्रीमोटा हृदय को बुद्धिप्रदेश से अधिक महत्त्व का गिनते हैं। हृदय की शिक्षा विकसित करने के लिए आत्मनिवेदन, मनोभावों का पृथक्करण करने का बताते हैं । जिससे मन, चित्त या इन्द्रिओं द्वारा प्राप्त होते ज्ञान की सच्ची समझ हृदय तक पहुँचे । जीवनविकास के लिए हृदय की उद्दात समझ अनिवार्य है । हृदय में ही मनुष्य का सर्वस्व समाया हुआ है । विकसित हुआ हृदय जीवन को विकसित करता है । संवेदनशीलता, मनोभाव, प्रेम, भावना बिना का जीवन आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता, इससे इन तत्त्वों के विकास के लिए हृदय की शिक्षा आवश्यक है ।

प्रवर्तमान शिक्षणजगत की ओर देखें तो ब्लूम की टेक्सोनोमी के अनुसार केवल Cognitive Domain (अर्थबोध-क्षेत्र) को अभ्यासक्रम में वर्चस्व दिया है । Motor Domain (शारीरिक हलनचलन प्रदेश) को व्यायाम के तास पर्याप्त - दिखावे का महत्त्व दिया है । यदि सच्चा महत्त्व दिया जाता हो तो विशाल खंड जैसे भारत देश में से

ओलम्पिक (वर्ष १९९२) में सौगंद खाने को एक भी सुवर्णचंद्रक पाये बिना, हरा नारियल लेकर, भारत के खिलाड़ी वापस न आये होते । गुजरात राज्य जैसा छोटासा दक्षिण कोरिया कितने चंद्रक जीत गया ? ब्लूम ने बतलाये Affective Domain (आवेगात्मकक्षेत्र) को तो शिक्षणक्षेत्र में से पूरा देशाटन दिया है । शालाओं में राष्ट्रीय त्यौहार सच्ची तरह से मनाये जाते हैं सही ? जहाँ उत्सव मनाये जाते हैं, वहाँ निपट यांत्रिकता होती है और उपस्थित हुई संख्या की तो बात ही करने जैसी नहीं है । इसलिए गणित-विज्ञान की तरह कोई तास नहीं रखना होता है । परन्तु शाला-कॉलेज का पर्यावरण ऐसा भावनामय हो, शिक्षक-विद्यार्थी के बीच का संबंध प्रेमभरा हो-भावभरा हो, उत्सव, त्यौहार, वार्षिकदिन, शिक्षक-अभिभावक दिन, शाला शुरू होने से पहले प्रार्थना का कार्यक्रम, पर्यटन, प्रवास, शिष्टवाचन उपलब्ध कराये ऐसा ग्रंथालय और उसका होता सतत उपयोग, वकतृत्व, नाट्यकला, संगीत आदि जैसी स्पर्धाएँ-इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ सही तरीके से की जाये तो विद्यार्थिओं में भाव या आवेगों का योग्य विकास हो ऐसा ऊर्ध्वीकरण भी हो । यह संभव हो इसके बाद ही श्रीमोटा ने जो हृदय की शिक्षा की बात की है, उस बारे में सोच सकते हैं और उनके विचारों को कार्यान्वित कर सकते हैं । बाकी, अभी तो हृदय की शिक्षा के बारे में शिक्षणक्षेत्र में बिलकुल अंधकार फैल गया हो ऐसा लगता है । *'मनुष्य मनुष्य हो तब*

भी बहुत है ।' यह लक्ष्य पूरा करने की आज शिक्षण जगत में अनिवार्य जरूरत है ।

ता. १३-९-१९९२ के 'संदेश' की साप्ताहिक पूर्ति में 'एकतरफी विकास से सावधान' में मनोविज्ञान के प्रोफेसर बोरींग अपने ही पुत्र पर किये प्रयोग की बात की है । यह सत्य घटना का मनोवैज्ञानिक सार यह है कि मनुष्य को मानसिक विकास साधना जरूरी है, पर आवेगात्मक विकास के भोग पर नहीं । मनुष्य की भावना अतृप्त रहे, उसकी खेलने-कूदने की वृत्ति संतुष्ट ही न हो, तो परिणाम भयंकर आ सकता है । बोरींग ने अथाक परिश्रम करके अपने बेटे को ज्ञान का जीता जागता भंडार बना दिया, परन्तु किशोर अवस्था में ही वह विद्वानों के सामने प्रवचन कर रहा था, तब अचानक रुककर अर्थहीन तरह से हँसने लगा - मानो कोई उपस्थित ही न हो । मनोवैज्ञानिक पिता समझ गये कि यह छिन्नभिन्न मनोविकृति (स्कीझोफ्रेनिया) का लक्षण है । यह प्रसंग स्पष्ट बतलाता है कि बालकों का सर्वांगी विकास होना जरूरी है और इसके लिए, पहले बतलाये अनुसार तन, मन एवं हृदय की शिक्षा अति आवश्यक है ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१७. आत्मा (स्व) की पहचान

सामान्य अर्थ के अनुसार 'आत्मा' की पहचान अर्थात् 'स्वयं' की पहचान अर्थात् अपनी इन्द्रियों, प्रकृति, मन, चित्त तथा विविध वृत्तिओं की सच्ची पहचान है । **आत्मा यह एक ऐसा दैवी तत्त्व है, जो अनुभव कर सकते हैं पर भौतिक स्वरूप में नहीं पा सकते हैं ।** वेदों, उपनिषदों में भी आत्मा की बात करते करते 'नेति नेति' कह दिया । यानी कि आत्मा की कोई निश्चित और स्पष्ट व्याख्या करनी कठिन है ।

व्यक्ति के शरीर में वृत्तियाँ, कामनाएँ, उत्साह, व्यग्रता, आक्रोश, आवेग आदि का बड़ा साम्राज्य स्थापित होता है । यह साम्राज्य ही व्यक्ति को गतिशील रखता है । व्यक्ति की इस प्रकार की गतिशीलता व्यक्ति को तोड़ भी दे अथवा व्यक्ति को उच्च कक्षा पर भी ले जाये । अर्थात् मानवस्वरूप में आये हुए इस प्रकार के साम्राज्य को तालीमबद्ध करना आवश्यक है । जिससे व्यक्ति उच्च कक्षा प्राप्त कर सके । इसके लिए आत्मज्ञान प्रकट करना पड़ता है ।

इस प्रकार का आत्मज्ञान प्रकट करने के लिए व्यक्ति विविध मार्ग अपनाता है । नामस्मरण, तप, यम, नियम, प्राणायाम, साधना, स्वगढ़न आदि जैसे विविध मार्ग अपनाते हैं । इस तरह अपने में रहे हुए परमतत्त्व को वह गढ़ता रहता

है । इसे ही आत्मा की शिक्षा कह सकते हैं । आखिर **शिक्षा उसे ही कहते हैं जो 'अंतर' को प्रकाशित करे ।** ऐसा भी कहा जाता है कि आत्मा समस्त ज्ञान का आधार है । शिक्षा ज्ञान की ही साधना है । और ज्ञान चेतना का विकास है । यों शिक्षा चेतना का ही संवर्धन है वैसा भी कह सकते हैं ।

श्रीमोटा ने स्वगढ़न के उच्चतम ख्याल प्रस्तुत करते करते अंत:करण के गढ़न की भी बात की है । अंत:करण की शिक्षा के विषय में अंत:करण की स्पष्ट समझ देते वे कहते हैं, 'हमारे में मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् ये पाँच तत्त्व हैं । हमारी बुद्धि सोचती है, दलील करती है, तर्क करती है, शंका-कुशंका करती है । मन संकल्प-विकल्प करता है । चित्त अनेक प्रकार के संस्कार ग्रहण करता है । प्राण अर्थात् आशा, इच्छा, कामना, तृष्णा, लोलुपता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष ये प्राण के कार्य हैं । अहम् सभी को गति देता है, तब इन सभी का एक नाम अंत:करण है ।'

('शेष-विशेष', पृ.)

नीचे दिये अवतरणों में श्रीमोटा आत्मा का विकास या आत्मा की पहचान संबंधी विचार प्रस्तुत करते हैं -

'जीवनविकास करना हो तो अपनी प्रकृति की कक्षा किस प्रकार की है, उसका आरपार स्पष्ट दर्शन हो जाना चाहिए ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'मोक्ष अर्थात् जन्म-मरण से मुक्ति नहीं, यह बात गलत है । पर कामक्रोधादि, रागद्वेषादि से मुक्त होना यह मोक्ष है ।' ('अग्रता-एकाग्रता', पृ.)

'साधना अर्थात् *जीव*स्वभाव को बदलने या पलटने की ज्ञानपूर्वक की क्रिया ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'द्वन्द्व से पर होने के लिए आंतरिक शक्ति विकसित करने की जरूरत है । इसी से ही तो विचार, वृत्ति, भाव आदि उत्पन्न होने पर समता, शांति, तटस्थता, साक्षीभाव आदि ज्ञानपूर्वक के जागृत प्रत्यक्ष उस समय रह सकें, वह सब अभ्यास बहुत बहुत जरूरी है ।'

('कदम-कदम पर प्रकाश', पृ.)

'सुख बाह्य प्रकार के साधनों में नहीं है । सुख तो है अंतर से प्रकट होती सच्ची समझ और उसके अनुरूप वर्तन में । ' ('जीवनपराग', पृ.)

'बुद्धि में संपूर्ण निर्मलता और समता प्रकट हुए बिना आत्मा का प्रकाश व्यक्त नहीं हो सकेगा ।'

('कुरूक्षेत्र में धर्मक्षेत्र', पृ.)

'हमें अपने अंत:करण को ऐसा ज्ञानपूर्वक प्रकट कर देना रहता है कि जैसे आयने में पानी दिखता है तो पानी की नमी से वह भिगता नहीं है ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा अंत:करण और आत्मा की पहचान किस तरह से करनी है, इसकी सुंदर समझ देते

हैं । मनुष्य के पास प्राण के साथ साथ प्रकृति भी है । जीवन की उच्चतम कक्षा प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को सबसे पहले अपनी आत्मप्रकृति को पूरी तरह से जानना जरूरी है । अपना अहम्, आवेग, लोलुपता, रागद्वेष आदि का स्पष्ट दर्शन अंत:करण के विकास के लिए अनिवार्य हैं । अपने अंत:करण का स्पष्ट दर्शन होगा, तभी उसमें किस प्रकार के परिवर्तन लाने हैं, उसकी आत्मसूझ प्रकट होगी । मानवी के अंत:करण में दो प्रकार के भाव प्रकट होते है - एक निम्नगामी और दूसरा ऊर्ध्वगामी । निम्नगामी भाव प्रकट नहीं करने पड़ते हैं, वे अपनेआप प्रकट होते हैं । जब कि ऊर्ध्वगामी भावों को निर्माण करने पड़ते हैं । अर्थात् अंत:करण में ऊर्ध्वगामी भाव अधिक प्रकट हो, उतने प्रमाण में निम्नगामी भाव अपनेआप कम होते जाते हैं । 'निम्नगामी (भाव) तो अपने आप हुआ करते हैं, ऊर्ध्व प्रकार में स्ट्रगल-संघर्ष है ।'

('शेष-विशेष', पृ.)

श्रीमोटा के विचारदर्शन अनुसार 'साधना' अर्थात् समाज का त्याग करके, चलकर पर्वतों पर या गुफाओं में छिपकर नामस्मरण करना वह नहीं है । परन्तु संसार में रहकर स्वभाव बदलने या पलटने की ज्ञानपूर्वक की क्रिया को सच्ची साधना कहा जाता है । इसलिए तो श्रीमोटा संसार को 'आध्यात्मिक व्यायामशाला' ('जीवनपराग',

पृ.) के रूप में देखते हैं । **स्वभाव परिवर्तित करके कामक्रोध, रागद्वेष फीके करके अंत:करण में शांति, तटस्थता तथा समता प्रकट करनी इसतरह का निरंतर अभ्यास करके अंतर की सच्ची समझ स्थायी बनानी उसे श्रीमोटा 'मोक्ष' कहते हैं ।** श्रीमोटा अंत:करण के विकास के लिए जीवन का समग्र लक्ष स्वकेन्द्रित करने को कहते हैं । श्रीमोटा बतलाते हैं, 'अंतर्मुखता पूरी तरह से विकसित हुए बिना बुद्धि में समता नहीं आ सकती है ।' ('जीवनपराग', पृ.) यानी कि बुद्धि की निर्मलता तथा समता के लिए स्वकेन्द्रि बनना जरूरी है । इसलिए वे कहते हैं, 'Turn the searchlight inwards.' अपने आपको अपने अंदर ही खोजो । ('पदरज की धूलिका का प्रताप', पृ.)

श्रीमोटा अंत:करण को ज्ञानपूर्वक विकसित करने को कहते हैं । इसके लिए व्यक्ति को अपने में ही संपूर्ण खो जाना है । 'अपने' में ही सभानता से रत रहना है । यानी कि अपने प्राण प्रकृति के भावों को ऊर्ध्वगामी बनाते रहना है । जिससे एक समय में अंत:करण ऐसी कक्षा पर पहुँचता है कि व्यक्ति को कुछ भी सोचना नहीं रहता है । अर्थात् व्यक्ति के सांसारिक व्यवहारों में रहे हुए द्वन्द्वों की असर अंत:करण पर नहीं होती । अंत:करण आईने जैसा स्वच्छ और पानी जैसा पारदर्शक हो जाता है ।

श्रीमोटा अंत:करण को विकसित करने के लिए आत्मनिवेदन का एक अनमोल साधन भी देते हैं । 'भक्ति के नव प्रकार कहे हुए हैं । उसमें से एक प्रकार आत्मनिवेदन भी है ।' ('धन का योग', पृ.) नवधा भक्ति* में उत्तम से उत्तम प्रकार की भक्ति यह है कि जो कुछ हो, वह भगवान को कहा करो । ऐसा करने से बुद्धि शांत होती है, मन की विशालता बढ़ती है । अहम् का लय होता है । आवेग, आवेश, क्रोध, कामनाएँ, इच्छाएँ आदि को नियंत्रित करने के लिए भी आत्मनिवेदन एक महत्त्व का साधन है ।

इस तरह से श्रीमोटा कठिन तप, उग्र तपस्या जैसे कठिन साधन न बतलाकर अंत:करण के विकास के लिए प्रकृति की स्व पहचान करने को कहते हैं, स्वभाव को बदलने को कहते हैं, बुद्धि को शांत करने को कहते हैं तथा अंत:करण को ज्ञानपूर्वक विकसित करने को कहते हैं । जिससे व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करने के लिए समर्थ हो सकता है ।

उपरोक्त लेख का शैक्षणिक फलितार्थ करना हो तो शिक्षण का उच्चतम हेतु आत्मसाक्षात्कार (Self Realisation) का है । संतों एवं शिक्षण के साथ जुड़ी हुई विभूतियाँ सभी ने 'अपने आपको पहचाने' (Know Thy-

---

* (१) श्रवणभक्ति (२) कीर्तनभक्ति (३) स्मरणभक्ति (४) पादसेवाभक्ति (५) अर्चनभक्ति (६) वंदनभक्ति (७) दास्यभक्ति (८) सख्यभक्ति (९) आत्मनिवेदनभक्ति

self) पर हमेशा से भार दिया है । शिक्षण अथवा जगत का यदि अंतिम ध्येय कोई हो तो वह आत्मा या स्व की पहचान का है । उसे फिर भले ही अलग-अलग नाम से - आत्मसाक्षात्कार, स्वपहचान, मोक्ष, सगुण-निर्गुण साक्षात्कार के रूप में पहचानने में आये । शिक्षण द्वारा भले अंतिम लक्ष्य पर न पहुँचे, परन्तु उसके लिए पूर्व तैयारियाँ-इन्द्रियों की शिक्षा, मन की शिक्षा, हृदय की शिक्षा आदि रूप में पाठ्यक्रम बने, शिक्षणक्षेत्र में वैसा भावावरण (Climate) खड़ा किया जाये, शिक्षक स्वयं सजग बने और निष्ठापूर्वक अपनी जिम्मेदारी अदा करे तो इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करते समय भारतीय शिक्षण की अच्छी तरह से कायापलट हो सके । यह सब तो 'अध्यात्म' के बारे में है, शिक्षण को उसके साथ क्या संबंध ? इस तरह से जो एकदूसरे के साथ अटूट ढंग से जुड़े हैं ऐसा समझकर, जीवनशिक्षण जीवन के लिए शिक्षण-ऐसा अर्थ निकाला जाये तो यहाँ जो आत्मा की पहचान या स्व-पहचान के बारे में जो कुछ बात प्रस्तुत की है, उसका भी शिक्षण में स्थान है ऐसा अवश्य कह सकते हैं ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१८. स्व द्वारा गढ़न

श्रीमोटा एक विलक्षण संत थे । तीव्र गरीबी में बचपन बिताने के बाद युवावस्था में जीवनसाधना की शुरूआत की थी । बचपन से ही अपने को मनाने और अपने को समझाने की आदत डाली थी । चबैना खाने की चोरी करने के बाद, अफीम के अभाव में शिक्षक की डाँट सुनने के बाद, व्यापारी की अप्रमाणिकता की सलाह के बाद, बनिये की बाड़ी के लड्डू घर लाने के बाद माता की डाँट सहन करने के बाद, ऐसे अनेक प्रसंगों के बाद श्रीमोटा अपने आपसे चिंतन और मनन का संवाद आयोजित करके स्वयं को गढ़ने का काम स्वयं ही करते थे ।

आध्यात्मिक साधना के समय भी गुरुआज्ञा, गुरुसूचन, गुरुदीक्षाशिक्षा सभी स्वीकार करने पर भी स्वगढ़न के लिए प्राप्त होते अनुभव, प्राप्त होते प्रसंगों से आत्मज्ञान प्राप्त करके विकास करने का सतत चालू रखते थे । यों तो श्रीमोटा का पूरा जीवनचरित्र स्वगढ़न की प्रेरणा दे ऐसा है । श्रीमोटा समझते कि जहाँ तक व्यक्ति अपने आपको कहे में न करे, नियंत्रित न करे, संयमित न करे, वहाँ तक व्यक्तिगत विकास हो नहीं सकता । इसके लिए स्व-पहचान की शुरूआत करके स्वविकास के लिए एक विशिष्ट दृष्टि विकसित करनी पड़ती

है, स्वयं को स्वयं का ही मित्र बनना पड़ता है, स्वयं ही अपना गुरु बनना पड़ता है और आत्मचिंतन एवं मनन द्वारा स्वगढ़न का यज्ञ जीवनपर्यंत चालू रखना पड़ता है ।

श्रीमोटा अतिशय सरल शब्दों में स्वगढ़न की सुंदर समझ देते हैं । समाज को बैठा करने के लिए व्यक्ति का निर्माण यह केन्द्र में है । श्रीमोटा भी व्यक्ति स्वयं अपने आपको विकसित करे उस संदर्भ में बहुत कहते हैं । बड़े बड़े शास्त्रों या ग्रंथों का श्रीमोटा ने कभी भी वाचन नहीं किया है । केवल अपने आपको 'मोटा' (बड़ा) बनाने का स्वयं का अनुभव वही अपना शास्त्र रहा है । श्रीमोटा के स्वगढ़न के लिए शिक्षादर्शक विचारों की सरल समझ (क) स्व तरफ दृष्टि (ख) स्व द्वारा स्व की पहचान (ग) स्वयं ही स्वयं का गुरु और (घ) स्वगढ़न ऐसे चार तबके में प्रस्तुत किया है ।

(१) स्व तरफ दृष्टि

'जिस प्रकार का हमें होना है, उस प्रकार की दृष्टि, वृत्ति और भाव हमारे दैनिक कर्मव्यवहार में प्राणवान हमें रखना चाहिए ।' ('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

'दूसरों के दोष तरफ नजर डालने के बदले उसके गुण की ओर नजर दिल में यदि रहा करे तो वैसे गुण हम में विकसित हो सकते हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'अपना दुर्गुण पहाड़ जितना देखो, दूसरों के दुर्गुण पहाड़ जितने हों तब भी राई जितना देखो ।'

('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा स्वगढ़न की शुरूआत स्वदृष्टि से करने को कहते हैं। व्यक्ति को अपनी महत्त्वाकांक्षा रखनी है । इस महत्त्वाकांक्षा के अनुसार उसे स्वयं जिस प्रकार से आगे बढ़ना हो, उस तरह से आगे बढ़ने के लिए प्रतिदिन के दैनिक जीवन में जागृति रखनी जरूरी है। दैनिक जीवनव्यवहार में ऐसी दृष्टि, वृत्ति और ऐसा भाव रखना चाहिए कि जो व्यक्ति के निश्चित किये हुए ध्येय के अनुरूप हो । मानव-प्रकृति के अनुसार व्यक्ति को दूसरों के दोष, दूसरों की बुरी आदत तुरन्त ही दिखते हैं। श्रीमोटा इस समय में स्वगढ़न के लिए ऐसा सूचित करते हैं कि व्यक्ति को दूसरों के गुणों की तरफ ही ध्यान देना है, जिससे उसकी असर व्यक्ति के अपने जीवन में भी हो । ऐसा कहा जाता है कि, 'जैसा देखोगे वैसा सोचोगे, जैसा सोचोगे वैसा पाओगे।' इसीलिए ही अच्छा देखना, जिससे अच्छा विचार मिले और अच्छे विचार से अच्छा व्यवहार भी मिले। श्रीमोटा दूसरों के गुण देखने के साथ साथ अपने दुर्गुणों को पहाड़ जैसे बड़े देखने को कहते हैं ।

यह सत्य है कि जहाँ तक व्यक्ति अपने दुर्गुण स्वीकार नहीं करेगा, ध्यान में नहीं लेगा, वहाँ तक वह उसे हटा नहीं सकेगा। श्रीमोटा स्वगढ़न के लिए स्व तरफ की दृष्टि रखने का कहकर समझाते हैं कि अपने दुर्गुण पहाड़ के समान गिनो, जिससे उसे निकालने के लिए मन में निर्धार होता जाय। ऐसे

स्वगढ़न की शुभ शुरूआत स्वदृष्टि के माध्यम से करनी रहती है ।

(२) स्व द्वारा स्व की पहचान

श्रीमोटा स्व तरफ की दृष्टि कैसी रखनी है और दूसरों की तरफ दृष्टि कैसी रखनी है, इसकी समझ देने के बाद स्व को पहचानने की बात करते हैं । आज व्यक्ति अपने को पहचाने बिना जगत को पहचानने निकल पड़ता है, इसलिए ही वह दुःखी है । **स्व की पहचान वही साक्षात्कार है ।** इतिहास की तरफ देखने पर मिलता है कि संतों की प्रार्थना, अर्चना या साधना का एक सामान्य सूर यह था कि, *'प्रभु मुझको मुझ से मिला दे ।'* अर्थात् स्व की पहचान में सभी आ जाता है ।

श्रीमोटा के निम्न अवतरण स्वगढ़न के लिए स्व की पहचान करने खूब ही उपयोगी और मार्गदर्शक बने वैसे हैं ।

'जो स्वयं को आरपार ठीक से पहचान सकता है, वह दूसरों को भी ठीक से पहचान सकता है ।'

('जीवनमंथन', पृ.)

'हमारे संसार में हमें जीवन में रस पड़े वैसा वातावरण नहीं है या नहीं हो पाया है, इसका मूल कारण हम स्वयं ही हैं ।' ('मुक्तात्मा का प्रेमस्पर्श', पृ.)

'सबका मूल बीज अपनी प्रकृति है । दूसरे किसी को

दोष देने में या दूसरों के दोष देखने वह हमारी पामरता और निर्बलता है । हम स्वयं ही विशेष जागृत रहने का प्रयत्न करें ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'हमारी भूल हम स्वयं ही देखना सीखें ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'स्वयं परखकर स्वयं को, स्वयं को वह सुधारने
प्रयत्न करे निश्चय से, मात्र वैसे कमाये तब ।'

(गुर्णविमर्श, पृ.)

'सत्त्व, रजस और तमस इन तीनों में से कौन-सा गुण महत्त्व से हमारे स्वभाव में समाया हुआ है, यह सब ठीक से स्पष्ट समझना पड़ेगा ।' ('आकाश का उजाला', पृ.) (यह पुस्तक 'संतहृदय' नाम से उपलब्ध है ।)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा स्व के निर्माण के लिए स्व का परिचय प्राप्त करने की बात समझाते हैं । उनके मत अनुसार संसार को पहचानने के लिए, दुनिया को समझने के लिए अपने आपको पहचानना पड़ेगा, साथ ही साथ समझना भी होगा । एक बार मनुष्य अपनी प्रकृति को, स्वभाव को ठीक से पहचानता और समझता हो जाये तो वह अपने सभी व्यवहारों का सच्चा पृथक्करण करके अपनी प्रकृति, स्वभाव को यथायोग्य समझने के लिए शक्तिमान हो जाता है । ऐसा होने से उसे अपने दैनिक व्यवहार में किस तरह से आचरण करना, कैसे समझना और कैसे बोलना उसकी आत्मसूझ

आये बिना रहती नहीं है । अर्थात् प्रकृति और स्वभाव को जानने के बाद व्यक्ति उन दोनों को नियंत्रित करने को शक्तिमान बनता है ।

जीवन जीते जीते मानवी अनेक प्रकार की भूल जाने अनजाने सहज स्वभाव से करता रहता है । श्रीमोटा भूलों से मायूस हुए बिना भूलों को समझने की बात करते हैं । **वे समझाते हैं कि व्यक्ति को स्वयं ही अपनी भूलों को जानना सीखना चाहिए ।** 'जिस व्यक्ति को अपनी भूल नहीं लगती, उसे अपनी भूल दूसरों के कहने या बताने से गले नहीं उतर सकती । शायद समझ आयेगी तो वह इतनी मर्मवेधक न हो ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.) अर्थात् व्यक्ति जब अपनी भूल स्वयं ही समझेगा तो वह भूल का पुनरावर्तन स्वयं रोक सकेगा । 'हमारी होती भूलों में से हमें अपने सत्य का रास्ता सूझनेवाला है । पर यदि अपनी भूलों का यथार्थ भान हुआ करता होगा तो ही ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.) इससे भूलों के कारण खड़े होते क्लेश, संताप, मानसिक तनाव आदि अपनेआप दूर होंगे ।

प्रत्येक व्यक्ति में तीन गुण–सत्त्व, रजस और तमस का समन्वय हुआ होता ही है, उसका प्रमाण अलग–अलग हो सकता है । इन तीनों में से कौन–सा गुण व्यक्ति में विशेष है, वह व्यक्ति को स्वयं जानना होगा, जिससे वर्तन–परिवर्तन में सरलता रहे वैसे श्रीमोटा बतलाते हैं । सत्त्व, रजस और

तमस–इन तीनों गुणों से जो एक गुण का प्राधान्य अन्य दो गुण से अधिक होता है, उसके आधार पर व्यक्तित्व का निर्धारण होता रहता है । व्यक्ति अपने में रहे हुए यह तीन गुणों की तीव्रता जाने तो उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यधिक आत्मज्ञान मिल सकता है । यों, श्रीमोटा स्वयंदृष्टि विकसित करने के बाद स्व की पहचान पर भार रखते हैं ।

(३) स्वयं ही स्वयं का गुरु

अपनी तरफ का दृष्टिकोण विकसित करने के बाद तथा स्वयं की पहचान पाने के बाद स्वगढ़न के लिए स्वयं को तैयार करना रहता है । स्वगढ़न के लिए अर्थात् स्व द्वारा स्व के निर्माण के लिए स्वयं अपना ही शिष्य बनना पड़ता है और स्वयं अपना ही शिक्षक बनना पड़ता है । श्रीमोटा स्वयं को ही स्वयं का गुरु बनने को कहते हैं ।

'कोई कहीं अवरोधरूप नहीं, यदि कोई हो तो स्वयं ही स्वयं को अवरोधरूप है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने आप ही अपना मार्गसूचन कर लेता होता है ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.)

'हमारे मन तो दोष से मनुष्य कितना सीखता है, यही सबसे महत्त्व का है ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'साधक अपना पृथक्करण तो नित्य नित्य करता ही रहेगा ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'गुरु तो तुम्हारे अंदर बैठा है, गुरु खोजने की जरूरत नहीं है । सच्ची जिज्ञासा जागी होगी तो सभी स्पष्टता हो जायेगी और रास्ता दिख आयेगा ।'

('श्रीमोटा के साथ साथ', पृ.)

'हमें तो अपनी सब शक्ति को हमें स्वयं को अपना मनवाने करने में रोकने की है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.)

'दूसरों को पूछने की जरूरत नहीं है । स्वयं ही स्वयं का गुरु है । दूसरों को पूछ पूछ करे, तब वह चलता नहीं है । बाकी जो मथता है, उसे सत्य मिलता है ।'

('मौनमंदिर में प्राणप्रतिष्ठा', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा स्व को स्व द्वारा गढ़ने के लिए व्यक्ति को स्वयं ही स्वयं का गुरु बनने का सूचन करते हैं । वे बतलाते हैं कि संसार में कुछ भी अवरोधरूप नहीं है । यदि कुछ अवरोध-हो तो व्यक्ति को व्यक्ति स्वयं ही रुकावट करता है । व्यक्ति का सबसे बड़ा दुश्मन या सबसे बड़ा (सबसे सच्चा) मित्र हो तो वह व्यक्ति स्वयं है । व्यक्ति स्वयं ही अपने आपको प्रगति या अधोगति के मार्ग पर ले जाता है । उसके लिए दूसरे किसी को या संयोग को दोष देने की जरूरत नहीं है । व्यक्ति की प्रकृति, वृत्तियाँ, स्वभाव, आदत-बुरी आदत, अपने संकीर्ण ख्याल आदि ही व्यक्ति को रुकावट करते हैं । यानी कि व्यक्ति को नियमित रूप से अपने व्यवहारों, स्वभाव, प्रकृति, ख्याल आदि का

पृथक्करण करते रहना चाहिए और अड़चनरूप तत्त्वों को छोड़ते रहना चाहिए ।

श्रीमोटा कहते हैं कि गुरु को बाहर खोजने की जरूरत नहीं है । गुरु व्यक्ति के अंदर ही है । जो जिज्ञासा के स्वरूप में, महत्त्वाकांक्षा के स्वरूप में या शक्ति के स्वरूप में छिपा हुआ है । श्रीमोटा कहते हैं कि एक बार दिल से जिज्ञासा जागी होगी तो व्यक्ति को मार्ग स्वयं ही दिखाई देगा । अनेक गुरु करने पर भी यदि जीवन की कक्षा ऊँची लाने की जिज्ञासा नहीं होगी तो किये सभी गुरु निरर्थक बन जायेंगे ।

इसप्रकार, श्रीमोटा अपने आपके गढ़न के लिए स्वयं ही कुछ कर सके ऐसा स्पष्ट कहते हैं । ऐसा कहते हैं कि बैल को बार बार पैना भोंककर पानी के कुंड तक ले जाया जा सकता है पर पानी नहीं पिलाया जा सकता अर्थात् व्यक्तियों को ज्ञान का पानी, शिक्षा का अमृत स्वयं अपने आप ही पीना पड़ता है । पीनेवाले के रूप में स्वयं ही हो तभी सच्चे अर्थ में स्वगढ़न होगा । (इसमें स्वाशिक्षण Auto Education का हार्द गर्भित रूप से छिपा है ।)

(४) स्वगढ़न

इतिहास में एकलव्य का उदाहरण स्वगढ़न के लिए सीमाचिह्न है । उसने गुरु तो किये पर साथ ही साथ आत्मशिक्षण ही प्राप्त किया था । गुरु की सूक्ष्म उपस्थिति में उसने आत्मपहचान, आत्मसर्वेक्षण, आत्मसूझ प्राप्त करके आत्मगढ़न

किया था । यानी कि व्यक्ति स्वगढ़न के लिए स्वयं जागृत हो जाय तो जीवनगढ़न प्राप्त करना अति सरल बन जायेगा । श्रीमोटा ने भी गुरु किये थे, तब भी अपनी साधना के वे स्वयं ही गुरु थे । स्वगढ़न संबंधी श्रीमोटा के विस्तृत ख्याल निम्न अनुसार हैं –

'पहले का पढ़ा हुआ भूलना पड़ेगा ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'हमें अपनी तरह से जीना है ही जीवन,
फिर पंचायत दूसरों की क्या करें भला ।'

('गुणविमर्श', पृ.)

'हम स्वयं के प्रति जितने वफादार रहेंगे, उतने प्रमाण में हम दूसरों के प्रति प्रामाणिक हो सकेंगे ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'स्वयं ही स्वयं का मित्र और स्वयं ही स्वयं का शत्रु है ।' ('गुजरात के संतविभूत–श्रीमोटा', पृ.)

'अपने में ही संपूर्ण रह सके' जितना गहरा,
उतना फलदायी है निश्चित वह प्रमाणित करना ।'

(रागद्वेष, पृ.)

'किसी का भी मूल्यांकन करने बैठना नहीं ।'

('जीवनदर्शन', पृ.)

'निराई करने की क्रिया तो साधक को जागृति रख रखकर किया ही करनी है ।' ('संसार में वृंदावन', पृ.)

'जो **जीव** अपने ही दोष को अधिक से अधिक देखता है और उसका निवारण करता है, वही **जीव** कुछ सार्थकतावाला है ।' ('जीवनसोपान', पृ.)

'अपनी आदतें, मंतव्यों, समझों, आग्रह, मतमतांतरों, दोषों, बुरी आदतें, आशा, इच्छा, कामना, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का स्वीकार करना है पर वह स्वीकार इसके लिए कि जिससे करके (साधक) उन्हें अधीन कर सके ।'
('जीवनप्रवेश', पृ.)

'हमारी निर्बलता का हमें भान हो, वह तभी सच्चा गिना जायेगा कि वैसा भान हमें बार-बार दंश दिया करे और हमें उससे ऊपर आने के लिए संघर्ष करवाया करे ।'
('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.)

'वाणी पर का जाग्रत काबू साधक को विकसित करना पड़ता है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'हमारे जीवन की शोभा भी वर्तन में रही हुई है ।'
('संसार में वृंदावन', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा स्वगढ़न के बारे में बहुत ही विस्तृत ख्याल देते हैं । श्रीमोटा दूसरों की पंचायत छोड़ देने को कहते हैं । यानी कि दूसरों के गुणदोष, प्रगति या अधोगति आदि का ख्याल किये बिना अपने बारे में सोचने का कहते हैं । साथ ही साथ दूसरों को सुधारने की पंचायत

भी छोड़ने को कहते हैं। उनके मत अनुसार व्यक्ति को अपने विचार अधिकार क्षेत्र में अपने को ही केन्द्र में रखना चाहिए। यानी कि रोज अपने आपको देखो, दूसरों को नहीं।

व्यक्ति अपनी प्रकृति जान जाय, अपना स्वभाव जान ले तथा अपनी वृत्तियाँ भी समझ ले, तो स्वंय ही अपना उत्तम मित्र बन सके। पर स्वयं को पहचाने और संसार में व्यवहार करता धूमे तो स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को दैनिक जीवन के अंत में रोज स्वमूल्यांकन करना चाहिए। स्वगढ़न के लिए यह उत्तम तरीका है। बिताये हुए चैबीस घण्टों में स्वयं किये हुए कर्म, स्वयं व्यक्त की हुई इच्छाएँ, स्वयं पूर्ण की हुई प्रवृत्तियाँ आदि का तटस्थ मूल्यांकन करना चाहिए। श्रीमोटा आग्रहपूर्वक बतलाते हैं कि दूसरों का मूल्यांकन करना छोड़ दो, अपने आपका ही मूल्यांकन करने से व्यक्ति में एक प्रकार की समझशक्ति अथवा तो आत्मसूझ प्रकट होती है। कहाँ, कितना, क्या और कैसे बोलना उसका सूक्ष्म विवेक विकसित होता है। कौन-सी प्रवृत्तियों को त्याग देना, किन विचारों को प्राधान्य देना आदि की गहरी समझ विकसित होती है। संक्षेप में, व्यक्ति का बोलना, चलना, उठना, बैठना और बरतना आदि जीवनविकास के योग्य है या क्यों उसकी समझ आत्ममूल्यांकन से अपने आप आ जाती होती है।

अन्य की निंदा का त्याग करने का बतलाकर, श्रीमोटा **जीव** के गढ़न के लिए व्यक्ति को अपने ही दोष देखने को कहते हैं । दोषों जानने के साथ ही साथ सभी दोषों, आग्रहों, समझों, बुरी आदतें, कामनाएँ आदि का गढ़न के हेतु के लिए स्वीकार करने को कहते हैं, यानी कि जैसे हैं वैसे का स्वीकार करो और जैसा बनना है वैसे बनने का प्रयत्न करो । अपने को धिक्कारने से कुछ मिलनेवाला नहीं है । श्रीमोटा तो कहते हैं, 'We must learn our own limitaions.' (हमें स्वयं ही अपनी मर्यादाओं को जानना है ।) ('कदम कदम पर प्रकाश', पृ.) अपनी प्रकृति का स्वीकार परिवर्तन हेतु से करना बहुत ही आवश्यक है । कुम्हार मिट्टी से योग्य आकार बनाता है । परन्तु इसके लिए मिट्टी को गिला होना पड़ता है । कंकर या रज से शुद्ध होना पड़ता है, खूब खूब गुंदाना पड़ता है, गति में आना पड़ता है । वैसा व्यक्ति की बात में भी है ।

श्रीमोटा तो कहते हैं, **'हम स्वयं अपने आपके ही जीवन में से अवगुणों और दोष को बीन बीन करके उसका मूलच्छेद करने में मशगूल रहा करें तो वह उत्तम से उत्तम सेवा है ।'** ('जीवनपुकार', पृ.) **अर्थात् व्यक्ति अपने को कोने में रखकर समाज की सेवा करने दौड़ता है, उसके बदले अपने आपकी ही उच्च कक्षा निर्माण करे यही बड़ी सेवा है ।** श्रीमोटा स्वगढ़न के हेतु के लिए वाणी

को भी काबू में रखने को कहते हैं। 'बोलकर बिगाड़ना नहीं' उस अनुसार बहुत कम बोलने को कहते हैं। 'कम से कम बोलने में अधिक लाभ है।' ('जीवनपराग', पृ.) वाणीव्यवहार से ही संबंध बँधते होते हैं, इससे अच्छे संबंध बाँधने उत्तम वाणी विकसित करनी चाहिए।

श्रीमोटा वर्तन में जीवन की शोभा देखते हैं। व्यक्ति का वर्तन, व्यक्ति की प्रतिभा बाँधता है, उसकी संस्कारिता प्रकट करता है। उसके मन में भावों का प्रतिबिंब वर्तन में प्रत्यक्ष होता जाता है। इसलिए श्रीमोटा स्वगढ़न के लिए वर्तन सुधारने को भी कहते हैं।

संक्षेप में स्वगढ़न के लिए श्रीमोटा के विचार स्वशिक्षा देते उत्तम ख्याल हैं। उच्च प्रकार की शब्दसंपत्ति का उपयोग किये बिना उत्तम और उद्दात्त विचार खूब ही सरल भाषा में आपश्री ने प्रस्तुत किये हैं। बिलकुल सामान्य व्यक्ति भी यदि यह ख्याल समझे तो उसे भी आत्मविश्वास जाग सके वैसा है कि स्वयं जीवन का गढ़न कर सकेगा तथा अपनी जीवनकक्षा अधिक ऊँची ला सकेगा। स्वगढ़न संबंधी श्रीमोटा के विचार निम्न से निम्न भूमिका पर या ऊँची से ऊँची भूमिका पर रही सभी व्यक्तिओं के लिए दीपस्तंभ रूप पथमार्गदर्शक हैं।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

१९. नर से नारायण

मानवी यह परमात्मा का उत्कृष्ट सर्जन है। उसमें अनेक प्रकार की ऊर्ध्वगति पाने की उच्च संभावनाएँ तथा सात्त्विक संभावनाओं का स्त्रोत समाया हुआ है। इसलिए ही अंगूलीमान लूटेरा स्वामी आनंद बन सका तथा वालिया में से वाल्मिकी का आविष्कार हुआ ।

राख में पसरा हुआ अंगारती अग्नि का अंश नहीं, स्वयं अग्नि है वैसे व्यक्ति स्वयं परमात्मा है। आवश्यकता है मात्र उस पर चढ़े हुए 'आवरणों' को हटाने की । 'जीवनसंग्राम' के स्वीकार की ।

मनुष्यमात्र में छिपी हुई इन सुषुप्त दैवी शक्तिओं को जानना, विकसित करना और जीवन में उसका आविष्कार बुन लेना यह एक प्रकार की आत्मशिक्षा है। मानव व्यक्तित्व का उच्चतम विकास यह शिक्षा का एक सात्त्विक उद्देश है । मानवी का संपूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो, उस दिशा में शिक्षा सतत गतिशील होती है । परन्तु शिक्षा का इस उद्देश सिद्ध करने व्यक्ति को स्वयं मथना पड़ता है, जूझना पड़ता है । अर्थात् नर से नारायण बनने की छिपी हुई संभावना साक्षात् करने व्यक्ति को स्वयं पुरुषार्थी बनना पड़े। पुरुषार्थ के लिए व्यक्ति को आत्मखोज करनी पड़े, आत्मजागृति का संग

विकसित करना पड़े । जीवनपथ पर कदम कदम पर आते स्थूल या सूक्ष्म जीवनसंग्राम खेलने पडें तो ही **जीव** से **शिव** बनना सहज होता है ।

श्रीमोटा इसी प्रकार की शिक्षा के संदर्भ में व्यक्ति को मिट्टी से मानव और मानव से महामानव बनने को कहते हैं । स्वाभाविक है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए आत्मविकास का तथा सच्ची शांति प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग या अनेक पद्धतियाँ हो सकती हैं । परन्तु इस सभी पद्धतिओं में व्यक्ति को अपनी आत्मशिक्षा (स्वगढ़न) के लिए प्रश्नपत्र निकालनेवाले (प्राश्निक), उत्तर देनेवाले (उत्तरार्थी) और जाँच करनेवाले (परीक्षक) इन तीन जगहों पर स्वयं व्यक्ति को ही कार्य करना पड़ता है । एक ही पात्र को त्रिपात्री अभिनय सच्चे अर्थ में निभाना होता है ।

संसार को पाठशाला एवं प्रयोगशाला के रूप में स्वीकार करने का बतलाकर श्रीमोटा संसार तथा समाज में रहकर ही आत्मसाक्षात्कार तथा आत्मप्रतीति (अपनी महत्ता और मर्यादाओं का भान होना वह) करने को कहते हैं । व्यक्ति का उच्चतम विकास साधने के लिए श्रीमोटा ने बतलाये हुए विचार पढ़े या अनपढ़, युवक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, साधु या संसारी सभी को स्पष्ट तरह से समझ आयें ऐसे हैं ।

(१) आत्मपहचान

व्यक्ति को स्वयं प्रथम तो 'नर' बनना पड़े अर्थात्

अपने में छिपे हुए दैवीतत्त्व को विकसित करना पड़ेगा, उसके लिए आत्मखोज, आत्मपृथक्करण, आत्मनिरीक्षण करना जरूरी है। श्रीमोटा की आत्मपहचान संबंधी विचारमाला नीचे अनुसार है,

'हमें बारबार अपने को नीरखना है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'अपनी प्रकृति, स्वभाव को जानना पूरी तरह से जरूरी है ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

'अपने जीवनविकास के पथ पर हम स्वयं ही अपने अकेले साथी सच्चे साथी हैं ।' ('जीवनसंशोधन', पृ.)

'दूसरों के माप से जो अपने को मापना और मपवाना चाहता है, उसमें जाहिर हिंमत और साहस विकसित नहीं हो सकते हैं ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.)

'तुम्हारे अपने अवगुण देखो ।'

('मौन-एकांत की पगडंड़ी पर', पृ.)

'स्वंय स्वयं का ही देखें, गहरे से गहरा खोजें,
रहे मशगुल अपने में, सत्य को पूर्ण पाने ।'

('गुणविमर्श', पृ.)

'हमारे में गुण अवगुण दोनों हैं । यदि गुण देखेंगे तो अच्छे गुण का धन मिलेगा, यदि अवगुण देखोंगे तो उसके संस्कार पड़ेगे ।' ('मौन-एकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'अनेक प्रकार के राग मोहादि द्वन्द्व के संघर्षों में मन, बुद्धि, प्राण, अहमादि कैसे कैसे उठे हैं, किस तरह से वहाँ

प्रवृत्त होते हैं, और किस तरह से शान्त होते हैं, यह सब साधक के भावी जीवन के लिए उसे ठीक पृथक्करण करके ध्यानपूर्वक देखना चाहिए । ('जीवनप्रवेश', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा आत्मपृथक्करण और आत्मपहचान की सुंदर समझ देते हैं । व्यक्ति के अपने आत्मविकास के लिए व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी प्रकृति तथा स्वभाव को जानना जरूरी है । प्रकृति और स्वभाव का सच्चा परिचय प्राप्त कराने के लिए व्यक्ति को अपने आपको प्रत्येक क्षण ध्यानपूर्वक देखने को श्रीमोटा कहते हैं । श्रीमोटा बतलाते हैं कि अपनी प्रकृति और स्वभाव के बारे में ज्ञान प्राप्त करते सीखना यह अपने व्यक्तिगत गढ़न के लिए, अपने व्यक्तिगत विकास के लिए बहुत ही जरूरी है । श्रीमोटा की जीवनसाधना का प्रथम सूत्र था, 'हमेशा स्वयं सुधरने का प्रयत्न करना ।' ('मौन-एकांत की पगडंडी पर', पृ.) अपनी प्रकृति को जानना यानी अपने कार्य, प्रवृत्तियाँ और प्रतिकार्यों (Reactions) के पीछे का हेतुओं क्या हैं, वह जानना तथा अपने अंदर जो कुछ होता है, वह किसलिए होता है, किस तरह से होता है वह जानें । व्यक्ति स्वभाववश कर्म करने को प्रेरित होता है, इससे विविध कर्मों के पीछे की वृत्तियाँ समझना वे आत्मविकास के लिए जरूरी हैं । शास्त्रों में भी कहा गया है कि मनुष्य को अपने आपको सतत पूछना चाहिए, 'मैं जो जीवन जी रहा हूँ, यह कोई पशु को शोभा

दे ऐसा है या सत्पुरुष को शोभा दे ऐसा ?' यानी कि व्यक्ति को सतत आत्मनिरीक्षण करना चाहिए ।

श्रीमोटा स्वभाव और प्रकृति की स्वयं जानकारी प्राप्त करने की बात को आगे बतलाते हैं कि स्वप्रकृति और स्व-स्वभाव सुधारने के लिए स्वयं ही प्रयत्न करना पड़ता है । अर्थात् अपने जीवनविकास के पथ पर स्वयं ही अपना साथी बनना पड़ता है । यानी कि कृति करनेवाला, कृति को ध्यानपूर्वक देखनेवाला और कृति सुधारनेवाला भी स्वयं ही होना पड़ता है । जीवन का सत्य प्राप्त करने के लिए श्रीमोटा 'आत्मखोज' करने को कहते हैं । व्यक्ति को अपने ही अवगुण देखने चाहिए, जिससे उसे काबू में रखकर धीरे धीरे निर्मूल भी कर सके ।

श्रीमोटा आत्मखोज करने की पद्धति समझाते हुए कहते हैं कि सांसारिक द्वन्द्व के संघर्षों के समय मन, चित्त, बुद्धि, अहम् किस तरह से व्यवहार करते हैं, उसका सतत पृथक्करण करना चाहिए । यह पृथक्करण अपने ही मापदंड की सीमाओं के बीच होना चाहिए । दूसरे व्यक्तिओं के संदर्भ में अपनी वृत्ति, प्रकृति, मन, बुद्धि या अहम् की तुलना करेंगे तो व्यक्ति में लघुताग्रंथि या गुरुताग्रंथि का निर्माण होगा । इसप्रकार श्रीमोटा ने आत्मपहचान तथा आत्मखोज करने आत्मपृथक्करण का सरल साधन बतलाया है । उनके मत से प्रत्येक व्यक्ति में गूढ़ शक्तियाँ छिपी हैं । व्यक्ति स्वयं चाहता है वैसा बन सके इतनी उसमें गर्भित शक्तियाँ पड़ी हुई होती हैं ।

इन शक्तिओं का विकास हो और व्यक्ति पुरुष में से महापुरुष बने इसके लिए सर्व प्रथम आत्मनिरीक्षण करना चाहिए । उसके बाद आत्मपृथक्करण एवं आत्मखोज करने चाहिए । इस तरह से आत्मपहचान प्राप्त करके जीवन की दिव्यता प्राप्त करने गतिशील होना चाहिए ।

(२) जागृति

आत्मा का अर्थात् स्व का संपूर्ण परिचय पाने के बाद जीवन की कक्षा उच्च लाने के लिए श्रीमोटा जागृति विकसित करने को कहते हैं । **व्यक्ति में भान होता है पर सभानता विकसित करनी पड़ती है ।** श्रीमोटा जागृति का सूक्ष्म अर्थ देकर व्यक्ति के स्वविकास के लिए सभान बनने को कहते हैं ।

'जो जाग सके वह जी सकता है, बाकी के नहीं ।'
('जीवनपराग', पृ.)

'हमारी ढाल हम स्वयं बनें ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'दोष का मनन-चिंतन दोष का बल बढ़ाता है ।'
('जीवनसोपान', पृ.)

'जागता नर सदा सुखी' यहाँ इस कहावत में 'नर' शब्द रखा गया है । 'जीव' शब्द नहीं रखा है । जिस **जीव** में मर्दानगी प्रकट हुई रहती है, उसे नर कहा जाता है । जो ऐसा नर होता है, वही जागता रह सकता है ।'
('जीवनसोपान', पृ.)

श्रीमोटा जीवन की उच्चतम कक्षा पर पहुँचने के लिए व्यक्ति को जागृत बनने को कहते हैं । वे बतलाते हैं, *'जाग कर जो मथता है, उसे उगे कर्म अभिरुचि ।'* ('अभ्यासी को', पृ.) यानी कि जीवन के विविध कर्मो में अभिरुचि निर्माण करने के लिए जागृति लानी पड़ेगी । कर्म द्वारा ही जीवन पनपता रहता है । जीवन-विकासात्मक कर्म करने के लिए जागृति (सभानता) सतत रखनी जरूरी है ।

'जागता है वह मात्र देखता है, प्रकाश सर्व तरफ
जागा नहीं सदा उसे अंधेरा सर्व दिशा में ।'

('अभ्यासी को', पृ.)

अर्थात् जीवनप्रकाश वही प्राप्त कर सकता है, जिसकी जात (प्रकृति, स्वभाव, वृत्ति आदि) जागृत है ।

व्यक्ति की अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव आदि दोषित न हो, उसके लिए स्वयं अपनी ही ढाल बनना है । अर्थात् स्वयं को शुद्ध सात्त्विक रखने के लिए जागृति की ढाल कदम-कदम पर साथ रखनी है । शरीर से जहाँ तक व्यक्ति संसार में है, वहाँ तक न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, आमोद-प्रमोद, नीति-अनीति ऐसे जोड़ की वृत्ति में बह जाने के अनेक प्रसंग उपजनेवाले हैं । उस समय पर ज्ञानपूर्वक चेतते (जागृत) रहने का श्रीमोटा कहते हैं । ऐसी जागृति एक प्रकार की उत्तम स्वशिक्षा है । जागृति की विशेष समझ देते हुए श्रीमोटा व्यक्ति को अपने दोषों, कमिओं का चिंतन न

करने की सँभाल रखने को कहते हैं । जो दूसरों का दोष देखा करता है वह निर्बल है । ('मौन-एकांत की पगडंडी पर', पृ.) 'जागता नर सदा सुखी' इस कहावत की सुंदर समझ श्रीमोटा देते हैं । उनके मतानुसार इस कहावत में 'जीव' के स्थान पर 'नर' शब्द रखा गया है । अर्थात् **जीव**मात्र में छिपे हुए पुरुष की यह बात है । **नर यानी व्यक्ति में छिपा हुआ 'पुरुष' ।** व्यक्ति में छिपा हुआ पुरुष (प्राण) एक बार जागृत हो जाय तो फिर जीवन की कोई पीड़ा व्यक्ति को स्पर्श नहीं कर सकती । श्रीमोटा दिव्यता प्राप्त करने के लिए जागृति का सेवन करने को कहते हैं ।

(३) जीवनसंग्राम का स्वीकार

जीवन का दूसरा नाम संघर्ष है । आत्महत्या के स्वानुभव ने श्रीमोटा को जीवनजागृति दी । बचपन से ही जीवनसंग्राम खेलते खेलते 'चुनीलाल' से 'मोटा' बननेवाले श्रीमोटा के जीवनविकास के लिए जीवनसंग्राम के ख्याल शिक्षा का एक अलग ही प्रकाश देते हैं । 'युद्ध द्वारा स्वनिर्माण' की उत्तम समझ उनके विचारों में देखने को मिलती है ।

'संघर्ष का स्वीकार जीवनविकास की शिक्षा के लिए आवश्यक हैं ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'व्याष्टि से समष्टि तक यदि अंतर्गतरूप से सोचें तो सर्वत्र एकमात्र संग्राम ही चल रहा है ।'

('कुरुक्षेत्र में धर्मक्षेत्र', पृ.)

'सामना जो करना है, वह तो अंतर में आंतरिक वृत्तिओं का करना है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'हमारे अंदर के युद्ध से जीवन जन्म लेता है । जीवन का विकास होता है, उस जीवन के अंतिम हेतु की सिद्धि भी हुआ करती है ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.)

'बिना संग्राम अंतर की कभी शक्ति नहीं बढ़ती है, हमने संग्राम को इससे सितारा-गुरु गिना हुआ है ।'

('जीवनघडतर' गुजराती पुस्तक, पृ. २९)

हमारे युद्ध हमारे अंदर खेलने हैं ।

('जीवनमंथन', पृ.)

'जीवन में संघर्ष खड़ा होता है, तब हृदय से होता है । ऐसे मंथन से नवनीत निकाल लेने की कला जाननी अनिवार्य है और वह सच्ची तरह से प्रयत्न करनेवालों को अपने आप सूझती है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

उपरोक्त अवतरणों में श्रीमोटा जीवनसंग्राम की बात समझाते हैं । जीवन में खेले जाते छोटे बड़े स्थूल और सूक्ष्म युद्ध द्वारा स्वशिक्षा प्राप्त करने का आपश्री का विचारदर्शन एक नयी ही लीक बनाता है । श्रीमोटा के चिंतन अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जीवन 'युद्ध' से ही टिकता होता है । अर्थात् जीवन्त व्यक्ति अपने जीवन में आते संघर्षों का स्वीकार करके ही अपने बल पर ही बढ़ते रहते हैं । जिंदगी यह कोई आस्फाल्ट (मार्ग पर बिछानेवाला डामर, जिससे

रोड़ सपाट बनते हैं ।) का सुन्दर रास्ता (Road) नहीं कि सीधे सरलता से दौड़ते जाँय । प्रत्येक क्षण व्यक्ति संघर्ष का सामना करता रहता है, कभी मन और हृदय के बीच तीव्र सूक्ष्म संघर्ष चलता रहता है, कभी शरीर और आत्मा के बीच संघर्ष चलता रहता है, ऐसे पूरा जीवन युद्ध से ही जीवित रहता है और युद्ध से ही उसका विकास होता रहता है ।

जीवन की ठोसता विकसित करने के लिए जीवन में आती टकराहटें, उलझन, कठिनाई, युद्ध, उपाधि आदि का स्वीकार करके 'अंतर' के गढ़न के लिए वे आंतरिक वृत्तियों के सामने युद्ध करने को कहते हैं ।' तुम अपने साथ लड़ने का रखना, दूसरों के साथ लड़ने में कोई माल नहीं है । अपने आपसे लड़ने में हमें अपने आप के बारे में पूरी समझ आती है और हमारी चाल की भी समझ आती है । हमारा अंर्तज्ञान बढ़ता है और हमें कैसा बरताव करना है, उसकी भी सूझ पड़ती है इसलिए हमें तो अंतर में लडाई करते रहना है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

'युद्ध' के कारण जीवन में नूतन परिवर्तन आता होता है, जो नवीन चेतना निर्माण करने के लिए मददरूप होता है । **जो व्यक्ति संघर्ष से डरकर सलामत दशा पसंद करता है, वैसी व्यक्ति ऊर्ध्व की ओर गति नहीं कर सकता ।** जिसे भी जीवनविकास के लिए स्वयं का गढ़न करना है, उसे

सामान्य मानवी की तरह परंपरागत जीवन जीने का छोड़ना पड़ेगा और 'अंदर का आंतरिक' युद्ध खेलना पड़ेगा ।

मानवी के आधार के प्रत्येक करण की प्रवृत्ति में युद्ध खेला जाता रहा है । मन के क्षेत्र में और बुद्धि के क्षेत्र में अनेक प्रकार के विचार तथा वृत्तियाँ उठती रहती है । इस समय अनेक प्रकार के द्वन्द्वों के बीच सूक्ष्म संघर्ष होता रहता है । जैसे कि आशा-निराशा, विजय-पराजय, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, करुणा-घृणा, प्रेम-धिक्कार, सत्य-असत्य, लाभ-हानि, जन्म-मृत्यु, भाव-अभाव आदि । इन सभी प्रकार के युग्मों के युद्ध समय में व्यक्ति को स्वयं साक्षी बनकर अपने आपको विकसित करना है । क्या सोचना, क्या जाने देना, क्या अपनाना, क्या त्यागना, क्या स्वीकार करना आदि का जागृतरूप से विचार करना यह एक प्रकार का आंतरिक युद्ध ही है । इसीलिए श्रीमोटा व्यक्ति को अपने अंदर ही युद्ध करने का कहते हैं ।

यों, श्रीमोटा के जीवन से तथा उनके आध्यात्मिक विचारदर्शन में से जो ध्यान आकर्षित करे ऐसा कोई तत्त्व हो तो वह है 'संग्राम' । श्रीमोटा ने कभी भी अपने अनुभवप्रमाण के अलावा कुछ भी नहीं लिखा या कहा नहीं । युद्ध यानी तो हिंसा, युद्ध यानी तो संहार, युद्ध यानी तो विनाश, बरबादी आदि आदि ऐसे प्रचलित ख्यालों से परे होकर श्रीमोटा स्व-शिक्षा के लिए 'युद्ध' का अर्थात् 'संघर्ष' का स्वीकार करके

जीवनविकास के लिए जीवनसंग्राम में जीवनयोद्धा बनने को कहते हैं । अपनी प्रकृति के सामने, अपने स्वभाव, वाणी, वर्तन के सामने युद्ध करके ऊर्ध्व में प्रकट होने को कहते हैं । यही है उनकी 'युद्ध की शिक्षा' ।

अमेरिका, फ्रान्स, जापान जैसे विकसित देशों में तथा भारत जैसे विकसते देशों में आज मानसिक रोगिओं का प्रमाण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है । इसका भूलभूत कारण यदि कुछ हो तो वह मानसिक तनाव है ।* जगत के प्रत्येक व्यक्ति में किसी न किसी समय पर मानसिक तनाव तो आयेगा ही, परन्तु उसके सामने टिकने की जो आंतरिक शक्ति पर्याप्त नहीं होती, तब वह व्यक्ति मानसिक रोग की गर्त में पड़ता है–डूब जाता है । इसके लिए कोई रास्ता हो तो वह है जीवन में आ पड़े संघर्षों से जूझना–उसका प्रतिकार करना है । जैसे रोग के सामने की प्रतिकार शक्ति कम हो और व्यक्ति या बालक रोग में फँसता है, उसी तरह मानसिक संघर्ष, मानसिक टकराव, हार (स्वंय का चाहा न होना) पचा सकने की प्रतिकारक शक्ति उसमें न हो तो लंबी अवधि के बाद स्थायी निराशा यानी विषाद (Depression) में डूब जाता है ।

---

* मानसिक तनाव यानी मन को नापसंद ऐसे प्रसंग, परिस्थिति उपस्थित होने पर, जो मन स्वीकार नहीं कर सकता है, उससे जो तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है, वह उसकी गंभीर असर मन और शरीर पर होती है ।

अलबत्ता, इस प्रकार की शक्ति पाठ्य-पुस्तकों द्वारा शिक्षित नहीं कर सकते । विद्यार्थी के आसपास के व्यक्ति-मातापिता, भाईबहन, मित्र, शिक्षक, आचार्य, पड़ोसी आदि और उसके आसापस का पर्यावरण-घर, शाला, समाज ऐसे प्रकार के हों कि उसमें से परोक्ष रूप से (non-formality) विद्यार्थी मानसिक युद्ध के लिए सज्ज हो, बात बात में ढीला न हो, आत्महत्या की ओर आकर्षित न हो । इस लिए मन की शिक्षा आवश्यक है ।

(३) नारायण तरफ

मानव-व्यक्तित्व का उच्चतम विकास यह शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश है । **'मानवी की सर्वदेशीय प्रतिभा का विकास जिस प्रक्रिया द्वारा हो, वह शिक्षा है । शिक्षा में मानव में रहे हुए उत्तम अंशों का आविष्करण करके नर को नारायण और नारी को नारायणी बनाना है । वह पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने की प्रक्रिया है ।'** ('श्रीमोटा-जीवन और कार्य', पृ.) शिक्षा यह आजीवन चलती एक अनंत साधना है, जिसके द्वारा मानव जन्म से मृत्युपर्यंत विकास के मार्ग पर सतत आगे बढ़ता रहता है और अंत में मोक्ष प्राप्त करके मानवजन्म सफल बनाता है । यानी कि मानव से माधव बनकर 'नारायण' स्वरूप प्राप्त करता है ।

श्रीमोटा कहते हैं, 'प्रत्येक **जीव** में **शिव** होने की शक्ति रही हुई ही है । प्रत्येक **जीव शिव** हो सकता है ।'

('विवाह हो मंगलम्', पृ.) अर्थात् प्रत्येक मानवी में परमात्मा का परमअंश आत्मा बिराजमान होता है, जो जीवन की उच्च कक्षा प्राप्त करवाने उसे मददरूप होता है । परन्तु इसके लिए व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना पड़े । प्रथम तो मन में सतत चिंतन करना पड़े कि हमे ऊर्ध्व गति की ओर जाना है ? श्रीमोटा कहते हैं, 'हम जिसका चिंतन किया करें ऐसे क्यों न बन सकें ?' ('जीवनपगडंडी', पृ.) 'सतत प्रयत्नों से ढोला ढोला मिटकर तितली बन जाती है ।' ('जीवनपगडंडी', पृ.) महान पुरुषों के जीवन के अनुभव ऐसा सिद्ध करते हैं कि मानवी स्वयं चाहे ऐसा वह हो सकता है । अर्थात् धारणा उच्च होगी तो जीवन उच्च ही होगा । परन्तु इसके लिए व्यक्ति को स्वप्रयत्न, स्वजागृति और स्वशिक्षा की प्रक्रिया सतत चालू रखनी पड़े ।

श्रीमोटा इस दिशा में अधिक समझ देते हुए कहते हैं, हमें हमारा अपना आश्रम बनना है । हमें तो उस आश्रम के नियम अनुसार चलना है ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.) यानी कि व्यक्ति को अपना जीवन स्वविकास के लिए 'आश्रम' समान बनाना है । (प्राचीन काल में संपूर्ण समाज की चेतना आश्रम से प्राप्त होती थी ।) इसी अनुसार व्यक्ति को भी अपने अंदर छिपी हुई दैवीचेतना प्रकट करके स्व के संपूर्ण विकास के लिए आश्रम बनना है, जिससे वहाँ आत्मा (चेतना) की छाया में 'शरीर' (मन, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ, मनोभावों का

समूह) सुरक्षित रह सके । साथ ही साथ श्रीमोटा जिंदगी को नियमानुसार बहाने को कहते हैं । अर्थात् **व्यक्ति की जीवनसरिता को नियम और संयम के किनारों के बीच बहाना है । शरीर है वह व्यक्ति की बहिर्मुखता है और आत्मा है इससे व्यक्ति की अंतर्मुखता भी है, बहिमुर्खता के लिए नियम जरूरी है और अंतर्मुखता लाने के लिए संयम जरूरी है ।** संयम की महिमा समझाते हुए श्रीमोटा कहते हैं, 'शरीर जैसे त्वचा से ठीक बंद रहता है और अंदर के जीवनदायी पदार्थ टिके रहकर बढ़ते हैं, वैसे खिलते जाते आंतरिक जीवन के आसपास ज्ञानात्मक संयम का कवच अनिवार्य है ।' ('श्रीमोटा के साथ वार्तालाप', पृ.) अर्थात् आंतरिक तत्त्वों का विकास करने के लिए संयम विकसित करने की जरूरत है, जिससे इन्द्रियों का दमन या देहपीड़ा बिना एवं मन को मारे बिना जीवन का आंतरिक प्रवाह निर्मल रूप से बहा करे ।

दूसरी तरफ श्रीमोटा नदी के पत्थर की तरह व्यक्ति को मुक्त रूप से जीवनसरिता में बहने को कहते हैं । सुंदर रूपक देकर श्रीमोटा समझाते हैं, '(नदी में) पत्थर लुढ़कता रहने से अपना आकार और घाट, स्थान स्थान पर घिसने के कारण अपने आप बदला करेगा और स्वयं नर्मदा के 'कंकर यानी कि शंकर' उस स्वरूप बनेगा ।' ('जीवनप्रारंभ', पृ.) श्रीमोटा कहते हैं कि यदि कंकर शंकर बन सके तो व्यक्ति

(नर) से नारायण क्यों नहीं बन सके ? व्यक्ति उसके जीवन में प्राप्त होते प्रसंग और अनुभव के समय जागृत रहकर सभी प्रकार के सात्त्विक गुण विकसित करने का रखे तो व्यक्ति स्वप्रयत्न से देव बन सके। 'मानवी जब जब साहस, हिंमत, धीरज, सहनशीलता, मृदुता, उत्कट प्रेमभाव, दूसरों के साथ हमदर्दी और सहानुभूति, क्षमा, करुणा इत्यादि गुणों को जीवन में प्राप्त होते जाते प्रसंगों में वर्तमान में प्रत्यक्ष अमल में रखता है, तब इस तरह से स्वप्रयत्न से देव बन सकता है।' ('जीवनप्रवेश', पृ.) यानी कि जैसे नदी का पत्थर घाट घाट पर घिसाता जाता है और आकार पाता जाता है तथा अपने ऊपर 'काई' जमने नहीं देता और अंत में शालिग्राम बनता है वैसे व्यक्ति को भी कदम कदम पर अपने को सुंदर आकार देते जाना है।

यों, श्रीमोटा नारायण की तरफ गति करने के लिए मानवी को उच्च धारणाएँ, दृढ़ निर्धारण, स्वगढ़न, स्वजागृति रखकर स्वप्रयत्न से देव बनने को कहते हैं। यानी कि अपनी जीवनगीता लिखने स्वयं ही 'कृष्ण' बनने को कहते हैं।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

२०. पूर्ण जीवन की शिक्षा

श्रीमोटा एक प्रौढ़ लोकशिक्षक थे । उनके शैक्षणिक चिंतन का केन्द्र था, 'संपूर्ण समाज का विकास ।' समाज के विस्तृत विकास के लिए प्रत्येक मानवी का व्यक्तित्व खिलाना जरूरी है । व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन पूर्णता प्राप्त करेगा तो ही समाज भी पूर्णता प्राप्त करेगा । इस प्रकार का विशाल ख्याल रखकर श्रीमोटा ने व्यक्ति के जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के लिए विविध मार्गदर्शक सूचन किये हैं । 'शिक्षण का काम व्यक्ति को पूर्ण जीवन के लिए तैयार करने का है ।' ('जिज्ञासा', पृ.)

श्रीमोटा के जीवनप्रसंग स्पष्ट बतलाते हैं कि बचपन से ही वे जीवनविकास के प्रति सभान थे । आत्महत्या* के प्रयत्न के बाद तो वे लिखते हैं, 'जीवन निरर्थक नहीं है । जीवन वह निराशा नहीं है । जीवन यह फेंक देने जैसी वस्तु नहीं है । जीवन यह केवल मन के मनोरथ नहीं है एवं मिथ्या स्वप्न भी नहीं है । उसमें से हमारे अखंड पुरुषार्थ के लिए प्रेरणा प्राप्त किया करनी है ।' ('जीवनमंथन', पृ.)

---

* मिरगी के रोग से ऊबकर आत्महत्या करने का प्रयत्न किया था, आपश्री जीवन से ऊबे नहीं थे, जीवनसंघर्ष यह तो उनकी जीवनसाधना थी ।

जीवन के सर्वांगी विकास के लिए व्यक्ति को किस तरह से जीना है, किस तरह से व्यवहार करना है आदि बातों का मार्गदर्शन देते हुए अनेक पत्र उन्होंने स्वजनों को लिखे थे । इन सभी पत्रों में श्रीमोटा का चिंतन इस बात की प्रतीति करवाता है कि **जीवनविकास की प्रक्रिया वह शिक्षा की ही प्रक्रिया है । शिक्षा जीवन की साधना है, शिक्षा ही जीवन के विकास का पर्याय है,** पूर्ण जीवन की प्राप्ति के लिए जीवन के अंत तक चलती जीवनसाधना की इस प्रक्रिया में व्यक्ति सतत गढ़ाती जाती होती ।

'जीवन' द्वारा 'पूर्ण जीवन' प्राप्त करना यही मानवी का अंतिम लक्ष्य है । पूर्णजीवन प्राप्त करने संबंधी श्रीमोटा के विचार शिक्षापुंज समान है ।

'जीवन अर्थात् अनेक जन्मों के संस्कार लेकर आये *जीव* की चेतनाशक्ति की मानवी देह द्वारा होती वहन क्रिया ।' ('जीवनपराग', पृ.)

जीवन को जानना, समझना और अनुभव करना यही सच्ची कला और विद्या है ।' ('श्रीमोटा के साथ साथ', पृ.)

'जीवन के लिए प्रज्वलित प्रकट हुई तमन्ना यह पहली अनिवार्य शर्त है ।' ('स्वार्थ', पृ.)

'जीवन आनंद के लिए है, रोनेधोने के लिए नहीं है । जीवन में जीवन को समझकर जीना है ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'निरंकुश रीति से बरतने से कभी जीवन में व्यवस्थितता और विकास संभव नहीं है, जीवन भी एक कला है और उत्तम से उत्तम कला है । निरंकुश रीति से कूँची चलाने से कोई उत्तम चित्रकला नहीं बनती है ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'जीवन में ध्येय की प्राणप्रतिष्ठा प्रकट करनी है ।'

('जीवनपुकार', पृ.)

'जीवन तो एक और समग्र है और इस तरह से जो भी कुछ हुआ करे, उसे हमें स्वीकार करना चाहिए । इसमें से बोधपाठ भी लेना रहता है । इसमें से क्या क्या नकारना रहता है, यह भी सीखना मिलता है । कैसे जीना, कैसे बोलना, कैसे व्यवहार करना, इसकी भी जानकारी इसमें से मिलती है ।' ('जीवनप्रवेश', पृ.)

'जीवन समग्र परिवर्तन पाये, जीवन में कोई परलौकिक दृष्टि प्राप्त हो, इस तरह से ही जो भी देखाना, उस तरह से ही जो समझने का करता है, वह जीवन को सच्ची तरह से समझ सकता है ।' ('जीवनपुकार', पृ.)

'जीवन को जो फना करेगा, जीवन का ख्याल रखकर,
जीवन उसे अवश्य मिलेगा, जीवन से वह जीवन खेलेगा ।'

('जीवनपराग', पृ.)

पूर्ण जीवन प्राप्त करने से पहले व्यक्ति को जीवन का स्पष्ट ख्याल रखना चाहिए । **श्रीमोटा के मतानुसार जीवन**

में जो चेतनाशक्ति है, वही हमारा जीवन है । इस चेतनाशक्ति में अनेक जन्मों के संस्कार संग्रहित हुए होते हैं, वे संस्कार जानने, समझने और अनुभव करने की यह एक प्रकार की विद्या (शिक्षा) है । उच्च जीवन जीने की धधगती तमन्ना व्यक्ति में होनी चाहिए, जिसे भी पूर्णता प्राप्त करनी है, उसे जीवनध्येय निश्चित करना आवश्यक है । श्रीमोटा कहते हैं कि जीवन को सार्थक करने, जीवन की दिशा निश्चित करने तथा जीवन की उच्च कक्षा निर्माण करने के लिए जीवनलक्ष्य होना चाहिए । जीवनलक्ष्य के कारण ही मानवी अन्य प्राणिओं से अलग पड़ आता है । 'लक्ष्य' की प्राप्ति के लिए ही मानवी का मनुष्यत्व विकसता होता है । श्रीमोटा कहते हैं कि तेली के बैल की तरह लीकयुक्त जीवन जीना एक प्रकार का मृत्यु है । 'तेली के बैल की तरह कोल्हू में प्रतिदिन जुड़ना और वह भी चश्मा पहनकर, इस तरह दैनिक की चक्रमाला से हमें नहीं गुजरना है ।'

('जीवनपगडंडी', पृ.)

पूर्ण जीवन की प्राप्ति के लिए श्रीमोटा जीवन को ही साधन बनाने को कहते हैं । यानी कि समस्त मानवजीवन को वे शिक्षा के क्षेत्र के रूप में स्वीकार करते हैं । इस प्रकार के ख्याल को अधिक स्पष्टता से समझाते हुए वे कहते हैं, अस्तुरा पत्थर पर घिसे बिना नुकीला नहीं होता वैसे जीवन

को तपाये बिना उसकी शुद्धि नहीं होती है । शुद्धि पाने के लिए तपना यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।'

('जीवनसोपान', पृ.)

यानी कि जीवन के विविध प्रसंग तथा प्राप्त होते अनुभवों से जीवन की शुद्धता बढ़ाती जानी है । जीवन में जो कुछ भी होता है, उसमें से ही व्यक्ति को बोधपाठ लेते रहना है । क्या नकारना, क्या सीखना, कैसे जीना या कैसे व्यवहार करना उन सभी प्रकार का गढ़न जीवन में से ही प्राप्त करना है ।

पूर्ण जीवन का विचार करते समय मुख्य तीन बातों का विचार करना अनुचित नहीं होगा । एक शरीर का, दूसरा व्यक्तिगत जीवनव्यवहार का और तीसरा आत्मगढ़न का । अर्थात् शारीरिक शिक्षा, मानसिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा और आध्यात्मिक शिक्षा इन सभी विषयों का पूर्ण जीवन की शिक्षा में विचार होना चाहिए । इसके अलावा पूर्ण जीवन के निर्माण के लिए शिक्षा को उसके अतिव्यापक स्वरूप में समझना चाहिए । इससे ही श्रीमोटा पुरुष और प्रकृति इन दोनों की शक्तिओं का समन्वय करके पूर्णजीवन प्राप्त करने को कहते हैं । अर्थात् व्यक्ति की बहिर्मुखता का संपूर्ण विकास होना चाहिए । साथ ही साथ अंतर्मुखता का भी गहरा विकास होना चाहिए । मात्र विकास नहीं पर दोनों का समान दिशा की तरफ

का विकास मानव को सच्चा जीवन प्रदान करेगा । अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों की एकात्मकता के संदर्भ में जीवनविकासार्थी को सतत विकसित होता जाना है ।

पूर्ण जीवन प्राप्त करने के लिए श्रीमोटा जीवन को माध्यम बनाकर सर्वांगी विकास करने का कहते हैं । इसके लिए प्रथम तमन्ना, उसके बाद जीवनध्येय और ध्येय की पूर्ति के लिए जीवनबोध धारण करने को कहते हैं, इसके अलावा प्रकृति की आंतरिक चेतना को भी पूर्ण स्वरूप में प्रकट करने को कहते हैं, यानी कि व्यक्ति में पुरुष और प्रकृति एकात्मकता तथा पूर्णजीवन में व्यक्ति और जीवन की एकात्मकता प्रकट करने को कहते हैं ।

पूर्णता प्राप्त करना वह मानवजीवन का उच्चतम हेतु रहा है । अर्थात् जीवन के सभी पहलुओं को वश में रखने का 'प्रभुत्व' प्राप्त करना उसमें जीवन की सफलता रही है । श्रीमोटा व्यक्ति और जीवन तथा जीवन एवं व्यक्ति दोनों का एकसाथ विकास करने को कहते हैं । शरीर में रक्त की गति को समांतर जीवन में संस्कार की गति चलाने को कहते हैं । 'जीवनउपासक' श्रीमोटा शिक्षा के ऋषि बनकर 'जीवनयज्ञ' करने को कहते हैं, जिससे पूर्णजीवन का साक्षात्कार पा सकें ।

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

२१. मौनमंदिर : आध्यात्मिक प्रयोगशाला

राधाकृष्णन् कमिशन ने अपने विवरण में धार्मिक शिक्षण पर अच्छा ऐसा भार रखा है । अलबत्ता, आज तक उस बारे में कोई ठोस कदम नहीं लिया गया है यह सत्य है । मेस्लो ने भी आवश्यकताओं की सौपानिक श्रेणी में अंतिम लक्ष्य-अंतिम आवश्यकता-आत्मसाक्षात्कार की ही दर्शायी है । भले फिर आज के भौतिकवाद के जमाने में उस विषय में कोई विचारणा न होती हो ।

देवभूमि भारतवर्ष ऋषि-संस्कृति के कारण से विख्यात है । साधना, तपश्चर्या, गुरुआराधना, संन्यास, मोक्ष जैसे आध्यात्मिक शब्द जनसमाज में सहजता से प्रचलित एवं स्वीकृत हैं । यह इस देश की आध्यात्मिक संस्कृति के मूल की गहराई बतलाता है । **मानवी में छिपी हुई चेतना का परमात्मा के साथ मिलन करवाना, यह इस देश के मानवजीवन का हेतु रहा है, जो जनसमाज में सामान्यतः स्वीकृत है ।** ऐसे आध्यात्मिक हेतु की पूर्णता के लिए किसी भी सत् मार्ग को अपनाना यह एक प्रकार की साधना है । परन्तु इस प्रकार की जीवनसाधना धारण करनेवाला व्यक्ति अपने ध्येयपथ पर तभी आगे बढ़ सकता है, जब उसे 'स्व' का साक्षात्कार हो, यानी कि स्वयं को ठीक से पहचाने एवं

समझे । **चिंतन की गहनता बढ़ाना, विचारशक्ति की सीमाओं को अधिक विस्तृत बनाना एवं अंतरसूझ की गहराई बढ़ाना यह एक प्रकार का आध्यात्मिक शिक्षण है ।** ऐसा आध्यात्मिक शिक्षण प्राचीन काल में आश्रमों में, गुरुकुलों में ध्यान, योग और एकांत, तप द्वारा देते थे । अंतिम दसक में भारत में योग के बारे में शिक्षणक्षेत्र में अच्छी तरह से विचारणा होने लगी है, इतना ही नहीं, 'योग' को एक विषय के रूप में शिक्षण की योग्यकक्षा में दाखिल करने के लिए का शिक्षा की नयी नीति में उल्लेख है ।

'स्व' की पहचान अथवा निज का परिचय संसार में रहते रहते हो सके ऐसा नहीं है । कारण कि मानवआत्मा शरीरधारी है, इससे वह सांसारिक बहिर्मुख जीवन से घिरा रहता है । अर्थात् रागद्वेष, क्लेश, संताप, घर्षण, टकराहट, मताग्रहों, मंतव्यों, वेदना, आक्रोश, मोह, वासना आदि की जाल में फँसा हुआ ही रहता है । इसके अलावा प्राणीमात्र की तरह भय, आहार, निद्रा और मैथुन के घुमड़ी चक्कर में वह तीव्रता से गोल गोल घूमा ही करता है । परिणाम में उसमें छिपे हुए 'चेतन' को पहचानने के लिए उसके पास अवकाश नहीं रहता, इतना ही नहीं, चेतना की अल्प अनुभूति भी पा नहीं सकता । इसप्रकार, स्वयं ही अपने को जाने, इसके लिए का शिक्षण पाने के लिए उसे सांसारिक बंधनों से खुलकर एकांत के सहारे जीने की आदत करनी अनिवार्य होती है ।

समाज में रहकर भी स्वयं अपने को समाज से अलिप्त करके एकांत में रहकर व्यक्ति अपना आत्मपरिचय समझ सकता है। अपने गुण-दोष, वृत्ति-विकार समझ सकता है। प्राचीनकाल में ऐसा एकांत प्राप्त करने के लिए गुफा अथवा जंगलों का सहारा लिया जाता था । पर, वर्तमान आधुनिकता ने ऐसे प्राकृतिक एकांत स्थान रहने नहीं दिये हैं। शायद कहीं सुलभ हो तो अपर्याप्त सुविधावाले होंगे । मानवी की न्यूनतम आवश्यकता (हवा, पानी और भोजन) सँभले और व्यक्ति एकांत में रह सके ऐसे स्थान तो दुर्लभ ही हैं ।

श्रीमोटा ने अपनी जीवनविकास यात्रा में कठोर तप किया था। संसार में रहते रहते भी समाज से अलिप्त होकर वे एक महीना एकांतवास में चले जाते थे । एकांतवास के दौरान उन्हें खाना न मिलता, खाये पीये बिना चार-पाँच दिन निकाल देने पड़ते थे। पर ऐसी कठिनाई में साधना से विमुख होना कभी नहीं होता था। शरीर में छिपे हुए प्रभु का परिचय प्राप्त करने के लिए साधनायज्ञ तो चालू ही रखते थे। समाज में रहकर, समाज के साथ नाता तोड़े बिना, ऐसी साधना तो श्रीमोटा जैसे वीर पुरुष ही कर सके !

सामान्य रूप से एकांत सहन करना कठिन है। फिर उसमें भी खानेपीने की मुश्किल से कठिनाई बढ़े, अतः मानवी की प्रकृति चीढ़ जाय, जो मानवमन पर विजय प्राप्त करके एकांत का त्याग करवाती है। यानी कि सामान्य मानवी

के लिए इस तरह से एकांत प्राप्त करना बहुत ही कठिन होता है। श्रीमोटा ने अपनी जीवनसाधना में यह सब अनुभव किया था, इससे समाज को सहज रूप से प्राप्त हो सके वैसा साधन निर्माण करने का आपश्रीने विचार किया। 'श्रीमोटा एकांत गुफा में जाते, तब कभी शुरूआत में खाने का मुश्किल था; भूखे रहते थे। इससे जो अपने जीवन की उत्क्रांति या विकास करना चाहते हो, उन्हें स्वयं को रुकावट हुई ऐसी असुविधा न हो, इस आशय से शहर की बस्ती से दूर होने पर भी जा सके इतने अंतर पर नदी किनारे तथा श्मशान के निकट हरि:ॐ आश्रम स्थापित किये।'

('परमपुरुष पू. श्रीमोटा और हरि:ॐ आश्रम', पृ.)

इसके अलावा श्रीमोटा के गुरुमहाराज ने भी आत्मकल्याण में न पड़े रहकर समाज को बैठा करने का आदेश दिया था। श्रीमोटा कहते हैं, 'मेरे गुरुमहाराज ने कहा है-**जीवों** की गति कुछ ऊँची हो, मन की गति कुछ ऊँची हो, कुछ अभिरुचि अच्छी प्रकट हो, यह ऊँचे प्रकार की सेवा है।' **सेवा का अर्थ है सुख पाना और विस्तृत करना।** शांति के बिना सुख नहीं मिलेगा। **इसलिए सुख मन की शांति-प्रसन्नता से ही मिलेगा। यानी जिससे मन की शांति, प्रसन्नता बनी रहे, वह उच्च प्रकार की सेवा है। अथवा उसके प्रति जिनकी अभिरुचि जागे ऐसा जो तरीका है, वह उत्तम प्रकार की सेवा है।** गुरुमहाराज ने आदेश

किया, 'जिससे मानवी मन को ऊँची दिशा में ले जाने का बने ऐसी प्रवृत्ति करे और स्वयं अपना पृथक्करण, संशोधन, प्रार्थना, अनुष्ठान कर सके ऐसा बनने के लिए **जीवों** को अंदर बंद कर दे ।' ('मौन-एकांत की पगडंडी पर', पृ.) इसलिए गुरुमहाराज के आदेशानुसार हरि:ऊँ आश्रम की स्थापना की गई । दक्षिण भारत में कुंभकोणम् कावेरी नदी के स्थान पर १९५० में, शेढी नदी के किनारे नडियाद स्थान पर १९५५ में और सूरत तापी नदी के स्थान पर १९५६ में आश्रमों की स्थापना की गयी थी । ये आश्रम अर्थात् ही 'मौनमंदिरों' का निर्माण ।

इसके पहले भी जो कोई व्यक्ति जीवनविकासार्थ प्रभुमार्ग पर जाने के लिए जिज्ञासा रखता हो और मौन-एकांत रखना चाहते हो, उसे श्रीमोटा मौन-एकांत में बिठाते थे । श्रीमोटा गाँधी आश्रम* में रहते थे, तब मीराकुटीर का मौन-एकांत के लिए उपयोग हुआ था ।**

यों, मौन और एकांत में रहकर जीवात्मा अपने अंदर मंथन करके जीवन के बारे में मनन-चिंतन करे और उसके साथ भगवान का स्मरण करे ऐसी आध्यात्मिक टेक्निक का

---

* साबरमती आश्रम, अहमदाबाद

** सूरत आश्रम बना उसके पहले आश्रम के नजदिक आये कुरुक्षेत्र श्मशान की धर्मशाला के कमरे का भी मौन-एकांत के लिए उपयोग हुआ था ।

स्फुरण गुरुमहाराज की आज्ञारूप में हुआ और गुरुमहाराज की आज्ञा के पालनरूप में मौनमंदिर का आयोजन हुआ ।

मौनमंदिर का दर्शन

श्रीमोटा ने स्थापित किये हुए इन मौनमंदिरों पुरानी गुफाओं का सुविधावाला आधुनिक और सरल स्वरूप है । मौनमंदिर में १० फूट बाय १२ फूट से लेकर के २० फूट बाय २० फूट तक के कमरे हैं । चौबीस घण्टे (ठंडा-गरम) पानी मिल जाय ऐसी योजना के साथ उसमें ही स्नानघर, शौचालय की व्यवस्था है । बिजली के गोले उपल्बध हैं । किन्तु बिजली से चलते पंखे के स्थान पर हाथ पंखे होते हैं । मौन में बैठनेवाला 'स्वजन' अपने साथ बैटरी रख सकता है ।* आराम से बैठकर झूलने या सोने के लिए खाट का हिंडोला होता है । पढ़ने लिखने के लिए टेबल-कुर्सी तथा टेबललेम्प रखे हैं । इसके अलावा बैठने की चौकी, घड़ी, पानी की मटकी, गिलास, डोल, गद्दा, तकिया, चादर, ओढ़ने के लिए रजाई, ब्लेन्केट आदि होते हैं । भजन-कीर्तन में सहायरूप ऐसे मजीरे और करताल जैसे साधन भी उपलब्ध होते हैं ।

भजन-कीर्तन, ध्यान-जप के माध्यम द्वारा केवल एक व्यक्ति ही अकेला ही सरलता से एकांतवास करके चिंतन मनन कर सके वैसी आवश्यक सुविधा मौनमंदिर में उपलब्ध

* वर्तमान में आश्रम जनरेटर से सुसज्ज है ।

है । मौनमंदिर की रचना में खिड़कियाँ और दरवाजे हैं सही पर हमेशा बंद रखने में आते हैं, जरूरत जितनी हवा का आवनजावन हो सके वैसा सूराख (वेन्टीलेशन) ही हैं । वे भी जाली से ढँके हुए हैं जिससे पंखी या पक्षी अंदर आकर विक्षेप न करे । चाय, भोजन आदि वस्तुओं की लेनदेन करने के लिए दोनों तरफ खुलती द्विमार्गी खिड़की की व्यवस्था होती है । किसी भी प्रकार की जरूरत या कठिनाई की जानकारी चाय भोजन के समय चिट्ठी लिखकर खिड़की में रखी जा सकती है । खास संयोग में अचानक सेवक को बुलाने के लिए बिजली की घंटी की व्यवस्था भी है । इसप्रकार, मौनमंदिर में दाखिल होने के बाद किसी भी व्यक्ति का मुँह तक देखने नहीं मिलेगा, सीधी बातचीत में भोजनथाली, खिड़की में रखे तब, रख देने के बाद, 'हरिः ॐ प्रभु, चाय रखी है ।' या 'हरिः ॐ प्रभु, प्रसाद (भोजन) रखा है, प्रेम से जीमना ।' इतने ही शब्द वहाँ के सेवक बोलते हैं । मौनमंदिर के साधक को प्रतिस्वर में 'जी प्रभु' या 'हरिः ॐ' कहने का रहता है ।

सामान्य रूप से मौनमंदिर में शरीर के आरोग्य को खास तकलीफ नहीं होती, तथापि सामान्य बीमारी के समय तात्कालिक देखभाल के लिए आश्रम तरफ से दवा भी दी जाती है । खास या विशिष्ट प्रकार की दवा मौनार्थी स्वयं अपने खर्च से मँगा सकता है । आकस्मिक कारणों से साधक

को मौनमंदिर से बाहर निकलना हो तो 'आपातकालीन घंटी' बजाकर बाहर आने के लिए भी व्यवस्था है । मौनमंदिर में साधना करने का निर्धारित समय सात दिन का है। इससे सात के गुणांक में मौनमंदिर में रह सकते हैं। यद्यपि मात्र प्रतीक स्वरूप में ही साधक के पास से एक दिन के पाँच रुपए के हिसाब से शुल्क लिया जाता है ।

मौनमंदिर में श्रीमोटा का फोटो रखा होता है, परन्तु साधक अपने इष्टदेव का फोटो भी रख करके अपनी इच्छा के अनुरूप जप मंत्र कर सकता है । आवश्यक लगे तो श्रीमोटा का फोटो सलामत स्थान पर रखा भी जा सकता है, क्योंकि सर्व धर्म तथा सर्व कौम या सर्व ज्ञाति के व्यक्तिओं को किसी भी भेदभाव के बिना प्रवेश दिया जाता है। इसके अलावा श्रीमोटा के सौ से भी अधिक पुस्तकें प्रत्येक मौनमंदिर में रखी हैं । तथापि अन्य आध्यात्मिक या धार्मिक पुस्तकें मौनार्थी अपने साथ ला सकता है । अखबार, मैगेजीन, ट्रान्जिस्टर (रेडियो) या टेपरेकोर्डर, (लेपटोप, मोबाइल फोन, आइपेड आदि उपकरण) आदि नहीं ले जा सकते, पत्रव्यवहार भी नहीं कर सकते हैं ।

मौनमंदिर में बैठनेवाले प्रत्येक साधक को आश्रमवासिओं के साथ ब्राह्ममुहूर्त में साढ़े तीन बजे जाग जाना होता है । आश्रम का दिन सुबह चार से रात के आठ बजे तक का निर्धारित है । समयपालन आश्रम की खास विशिष्टता है ।

प्रातःकाल ४.४५ बजे चाय, दूध, कोफी आदि, दस बजे सादा भोजन यानी दाल, भात, शाक और भाखरी ।* (आश्रम में तला हुआ तथा मिष्टान्न नहीं दिया जाता । भाखरी पर भी घी नहीं लगाया जाता । दोपहर १-४५ बजे चाय, दूध, कोफी आदि और शाम को पाँच बजे भोजन दिया जाता है । आवश्यकता पड़ने पर अपने खर्च से दूध, दही अलग से मँगाया जा सकता है ।

मौनमंदिर में बैठनेवाले व्यक्ति की जिज्ञासा हो तो धार्मिक, आध्यात्मिक सलाहसूचन दिये जा सकते हैं । सामान्य रूप से आश्रम की आचारसंहिता संबंधी आवश्यक विषय बतलाये जाते हैं । प्रत्येक कमरे में जानकारी फोल्डर उपलब्ध है ।

आध्यात्मिक प्रयोगशाला

हरिःॐ आश्रम के मौनसाधना के लिए एकान्त कमरे 'मौनमंदिर' के रूप में सुविख्यात हैं, जिसमें साधक को सुविधाभरा एकांत दिया जाता है । जटिल प्रश्नों से घिरे हुए वर्तमान युग में मानवजीवन समस्यामय बना है । मानवी स्वयं ही अपने को पहचान नहीं सकता है । इसलिए उसे क्या प्राप्त करना है, उसकी दिशा ही पता नहीं है ! अर्थात् जीवनध्येय क्या है ? अपनी पसंद-नापसंद क्या है ? जीवनविकास किस तरह से हो ? आदि के प्रतिचार दे सके, वैसा जीवनशिक्षण

---

* गेहूँ के मोटे आटे की कड़ी मोटी रोटी

व्यक्ति के जीवन में कहीं दिखता नहीं है । अतः कदम कदम पर वह व्यक्ति असंतोष के भँवर में फँसते जाता है । मौनमंदिर में व्यक्ति अकेला ही होता है । हाँ, साथ में होती है उसकी प्रकृति, उसकी वृत्तियाँ और उसका स्वभाव, इससे एकांत में बंद व्यक्ति अपनी प्रकृति, वृत्तियाँ और अपने स्वभाव के बारे में मानसिक प्रत्यायन शुरू करता है । बाह्य जीवन से अलिप्त होकर व्यक्ति 'निज' के साथ सहवास करता है । सांसारिक कर्मों से मुक्त होने के कारण आराम की पलों में वह चिंतन और मनन करने के लिए प्रेरित होता है ।

वाणी के मौन सिवाय अन्य ज्ञानेन्द्रियों के मौन के कारण अंतर्मुखता बढ़ती है । इससे मौनमंदिर में बैठनेवाला जीवात्मा अपनी प्रकृति और वृत्ति के स्वरूप को समझने के लिए आत्ममंथन कर सकता है । ऐसे आत्ममंथन द्वारा आध्यात्मिक शिक्षा की सीमाएँ अंकित होने लगती हैं । यानी कि आध्यात्मिक शिक्षण की ए, बी, सी, डी' की यहाँ शुरूआत होती है । यों, मौनमंदिर में जीवात्मा आत्मस्वरूप को पहचान ने की दिशा में प्रयाण करता है । अपनी वृत्तियाँ, विकारों और रुचिओं का स्पष्ट भान प्राप्त करके, जीवन की सात्त्विकता बढ़ाने रागद्वेष फीके करने में सफल हो सकता है । यहाँ जीवात्मा अपनी प्रकृति और रुचि अनुसार निश्चिंतता से प्रार्थना, भजन और अन्य साधनों द्वारा परमात्मा के साथ

एकरूप होने का प्रयोग कर सकता है । हृदय का भाव प्रकट करने के लिए मौनमंदिर श्रेष्ठ आध्यात्मिक शाला है ।

हरि:ॐ आश्रम में आये मौन (एकांत) कमरे में श्रीभगवान की प्राणप्रतिष्ठा करके श्रीमोटा ने उसे मंदिर का आध्यात्मिक दरजा दिलवाया है ।

'जैसे मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा हुए बिना पूजा नहीं हो सकती वैसे ये मौनरूम हैं । उसकी प्राणप्रतिष्ठा हुई है ।'

('मौनमंदिर में प्राणप्रतिष्ठा', पृ.)

'जो प्राणप्रतिष्ठा हुई है, इससे १६-१७ घण्टे तक नाम ले सकते हैं ।' ('मौनमंदिर में प्राणप्रतिष्ठा', पृ.)

मंदिर शब्द कान में पड़ते ही मूर्ति, घुम्मट, घंटारव, आरती आदि का स्मरण उभरता होता है । सामान्य रूप से मंदिर के साथ देव-देविओं या अवतारी व्यक्तिओं के नाम जुड़ते होते हैं - शिवमंदिर, भद्रकाली का मंदिर, कबीरमंदिर आदि । पर यहाँ तो मंदिर को मौनमंदिर कहा है । जहाँ आरती, दीये (पू.श्रीमोटा की सूचनानुसार हवा के शुद्धिकरण के लिए सुबह और शाम को लोबान के धूप की व्यवस्था जारी है ।) आदि कुछ भी नहीं होता । तब भी उसकी प्राणप्रतिष्ठा तो की गई है वैसा श्रीमोटा भारपूर्वक कहते हैं । तो मौनमंदिर में किस मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई होगी ? यह प्रश्न खड़ा हो यह स्वाभाविक है ।

सामान्य व्यक्ति ऐसा भी सोच सकता है कि श्रीमोटा

के मौनमंदिर हैं, इसलिए उसमें श्रीमोटा की मूर्ति होगी अथवा उनके गुरुमहाराज की मूर्ति होगी । पर आश्चर्य हो ऐसी बात है कि मौनमंदिर में किसी भी मूर्ति की स्थापना हुई नहीं है । **मौनमंदिर में स्थापन हुआ है, 'परमात्मा की चेतना का ।'** श्रीमोटा ने कठोर साधना द्वारा सगुण और निर्गुण का साक्षात्कार किया हुआ है और स्वयं चेतना आश्रम के वातावरण के अणु-परमाणु को सचेतन कर देती है । मौनमंदिर में ऐसी सचेतना की प्राणप्रतिष्ठा हुई है । ऐसी चेतनाशक्ति के कारण ही घर में एक मिनिट जितना नामस्मरण न करनेवाला व्यक्ति मौनमंदिर में १७-१८ घण्टे नामस्मरण कर सकता है । कारण कि मौनमंदिर की चेतनपूर्ण प्राणप्रतिष्ठा वहाँ के परमाणुओं में केन्द्रित होकर मौनार्थी के अंत:करण की रक्षा करती है एवं शिक्षित करती है । भारतीय शिक्षणदर्शन भी शिक्षण को ज्ञान की साधना गिनता है । **ज्ञान अर्थात् जानकारी नहीं, परन्तु चेतना का विकास, यानी कि शिक्षण अर्थात् चेतना का ही संवर्धन । श्रीमोटा ने मौनमंदिर जैसी आध्यात्मिक शालाएँ चेतना के संवर्धन के लिए ही अर्थात् सच्ची शिक्षा देने के लिए ही स्थापित की है ऐसा कह सकते हैं ।**

मौनमंदिर में जीवात्मा अकेला रहकर अपने हृदय में निवास करते प्रभु को खोजने के लिए प्रयत्न करता है । अर्थात् 'आत्मा सो परमात्मा' के आध्यात्मिक शिक्षण के महत्त्व का सूत्र साकार होने की तरफ गति करने लगता है ।

नामस्मरण के साथ उसे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् के विविधरूप दिखते रहते हैं । चेतना के माध्यम से स्वयं ही अपने को देखता है । कारण कि मौनमंदिर में प्रतिष्ठित हुई प्रभु की चेतना जीवात्मा को आत्ममंथन करवाती है और स्वयं ही अपने से अलग पड़ा हुआ देख सकते हैं ।

यों, मौनमंदिर में व्यक्ति का प्रकृतिरूप और उसका वास्तविक आत्मरूप अलग अलग हो जाते हैं । यानी कि 'स्व' के स्वशिक्षण के लिए स्वयं के समक्ष खड़ा किया जाता है । प्रभु की चेतना *जीव* से अलग पड़े हुए आत्मरूप में घुलते जीवात्मा प्रभुमय बनता है । यानी कि मौनमंदिर में बैठा हुआ जीवात्मा और स्वयं का स्वयं के साथ का संग्राम द्वारा अपने में छिपे हुए प्रभु को प्रकट होने देता है । व्यक्ति 'नर से नारायण' बनने का आत्मशिक्षण अनुभव करता है । अर्थात् मौनमंदिर का जो भी समय का वह 'प्रभु' बनता है । इससे मौनमंदिर में बैठनेवाले जीवात्मा को कोई भी चीजवस्तु देते हुए 'प्रभु' कहकर पुकारते हैं । भोजनथाल सबसे पहले मौनमंदिर के 'इस प्रभु' को चढ़ाने के बाद ही आश्रमवासी भोजन लेते हैं । ऐसे बारंबार के 'प्रभु' के उद्‌बोधन के कारण व्यक्ति अपनी शुद्धता, सात्त्विकता प्रकट करने को प्रेरित होता है । यानी कि 'स्वाशिक्षण' की गति अधिक तीव्र होती है ।

यों, मौनमंदिर में जीवात्मा को ही अपने में छिपाये हुए प्रभु की स्थापना करके उसकी साधना, अर्चना या आराधना करनी है । यही है मौनमंदिर की प्राणप्रतिष्ठा ।

शिक्षा का हेतु है मुक्ति । *'सा विद्या या विमुक्तये'* अर्थात् जो मुक्ति दे वह विद्या । **शिक्षण का सच्चा हेतु आत्मा का कल्याण है ।** इसके लिए आध्यात्मिक शिक्षा की ओर व्यक्ति का प्रयाण जरूरी है । आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए मन और प्रकृति पर विजय पाना खूब ही जरूरी है । इसके लिए व्यक्ति को मन और अपनी प्रकृति दोनों की गहराईपूर्वक की समझ प्राप्त करनी चाहिए । मौनमंदिर में व्यक्ति एकांतवास रखता है और मौन की मैत्री करता है । संसार से अलिप्त होकर एकांत में वास करने से जीवन के बाह्य व्यवहार बंद हो जाते हैं । अर्थात् जीवनव्यवहारों का लोप हो जाता है । अंतर्मुखता की तीव्रता के कारण से व्यक्ति स्वयं में झाँकता है और स्वयं में पड़े हुए अपने वास्तविक स्वरूप को देख सकता है । यानी कि अपने आपका पूर्ण परिचय पाने के लिए मथता है ।

'स्व' की पहचान सिवा का शिक्षण अधूरा है । मौनमंदिर में 'स्व' द्वारा स्व का निर्माण करने की आपश्री की यह पद्धति अत्यन्त शैक्षणिक है । पहले बतलाये अनुसार व्यक्ति स्वयं ही विद्यार्थी बने, स्वयं ही निरीक्षक बने तथा स्वयं ही परीक्षक भी बनता है । यों, अपना पृथक्करण करके 'स्व' को

कल्याणमार्ग की ओर मोड़ सकता है । मौनमंदिर आध्यात्मिकशाला किस तरह से ? उसका समर्थन करते निम्न अवतरण उपयोगी हो सकेंगे :-

'ये मौनमंदिर इसलिए बँधायें हैं कि लोग अंदर अठारह घण्टे लगातार स्मरण करे, मथे । इसके संस्कार बहुत गहरे पड़ेंगे । अंदर रहोगे उतने समय बाहर की प्रवृत्ति भी बंद पड़ेगी ।' ('मौनमंदिर का मर्म', पृ.)

'अपनी प्रकृति में वह कैसा है, कैसे थर उसमें पड़े हुए हैं ? उसे समझने की उसे बाहर फुरसत नहीं है, जब मौनमंदिर के अंदर यह सब उभरे तब सद्भागी **जीव** उसे समझकर उस तरह से अपने को सुधारेगा ।'

('मौनमंदिर में प्रभु', पृ.)

'मौन की तो दशाएँ हैं एक एक से क्या अलग !
आत्मा के मौन की जैसी सर्वोत्कृष्ट दशा न कोई ।'

('जीवनपराग', पृ.)

'मौन अर्थात् मात्र वाणी का मौन नहीं, सच्चा मौन तो पाँचों इन्द्रियों का है ।' ('जीवनपराग', पृ.)

'मौनएकांत में अंदर संस्कार उतरते हैं, मनुष्य अपने को समझता हो जाता है । अपने बारे में सोचता और आचरण करता हो जाता है ।' ('मौनएकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'संसारव्यवहार में रहे हुए हमें अपने आपका भान जागता नहीं है और मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, अहम् आदि को

इस तरह का विचार करने का अवकाश मिलता नहीं है, उसके लिए यह जगह है । यहाँ **जीव** अपने बारे में तटस्थतापूर्वक सोच सकता है ।' ('मौनएकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'संसार में अनेक प्रकार की प्रकृति और अनेक प्रकार के स्वभाववाले के साथ काम पड़ता है और अनेक प्रकार की अड़चनें जागें, इससे प्रसन्नता टूटे, ताजगी नहीं बनी रहेगी, स्थूल रूप में कर्म करने के लिए भी ताजगी चाहिए ।'

('मौनमंदिर का हरिद्वार', पृ.)

'यहाँ अंदर रहने से एकाग्रता-प्रसन्नता विकसित होती है । जबकि दूसरे कहीं ऐसा नहीं होता है । इसलिए यह सच्चा तीर्थ है ।' ('मौनएकांत की पगडंडी पर', पृ.)

'ऐसे पवित्र वातावरण में रहने से सूक्ष्म से सूक्ष्म संस्कार पड़ेंगे ।' ('मौनमंदिर का मर्म', पृ.)

मौनएकांत के माध्यम से व्यक्ति अपने आपको पहचानने को प्रेरित होकर आध्यात्मिकता की ओर किस तरह से जा सके, उसकी सरल समझ श्रीमोटा ने उपरोक्त अवतरणों में समझाई है । मौन द्वारा ही सच्चा शिक्षण प्राप्त हो सके, ऐसी उपनिषद के ऋषिओं की शिक्षण पद्धति श्रीमोटा ने अपनायी है । एकांत के लिए मौनमंदिर का क्या काम ? घर में ही किसी कोने में बैठकर एकांत और मौन नहीं रख सकते ? ऐसे प्रश्न जीवात्मा के मन में जागे यह स्वाभाविक है । पर व्यवहारिक परिस्थिति देखते हुए यह संभव नहीं है वैसा

श्रीमोटा अपनी साधना के स्वअनुभव से कहते हैं । 'दो लोगों ने बाहर ऐसे प्रयोग किये हुए हैं । सभी प्रकार की सुविधा होने पर भी वह संभव नहीं हो पाया ।' ('मौनमंदिर में प्राणप्रतिष्ठा', पृ.) मनुष्य का दैनिक जीवन सांसारिक कर्मों से घिरा हुआ होकर वह उसमें से मुक्त नहीं हो सकता । **अपने में छिपे हुए अपने वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए उसके पास समय का अभाव है ।** 'ध्रुव और प्रहलाद कुछ ही हो सकते हैं ।' ('मौनएकांत की पगडंड़ी पर', पृ.)

मौनमंदिर में प्रवेश करने के बाद व्यक्ति का मौन अपने आप शुरू हो जाता है । व्यक्ति की बाहर की मायाजाल अपनेआप सिमटती होने से व्यक्ति अंतर्मुखता की ओर मुड़ता है । यों, मौनमंदिर के माध्यम से व्यक्ति आत्माभिमुख बनता है ।

मौनमंदिर के निवास दौरान एकांतवास में व्यक्ति अपनी प्रकृति का जोश तथा इन्द्रिओं की वृत्तिओं का सत्य दर्शन कर सकता है । जीवन में किये हुए कर्मों का मूल्यांकन करने के लिए वह सक्षम बनता है, जन्मों पुराने संस्कारों का पृथक्करण करने शक्तिमान बनता है । एकांत के कारण से व्यक्ति के अंत:करणों को अवरोध करनेवाले परिबल होते ही नहीं । इससे 'मौन' का तेज व्यक्ति की इन्द्रियों को संयमित बनाता है । इसके अलावा सतत होता नामस्मरण व्यक्ति को सत्यदर्शन करवाने के लिए सहायक बनता है । एकांत के सहवास में

व्यक्ति को अपनी प्रकृति और वृत्तिओं का भान होता है । अकेले पड़ने पर व्यक्ति अपने पृथक्करण के लिए प्रेरित होता है । उसके गुण, अवगुण, विकार, वृत्तियाँ, किये हुए कृत्य या अपकृत्य, हुए सत्य-असत्य आचरण, किये हुए सत्य-असत्य निवेदन सभी 'व्यक्ति' के समक्ष उभरता है । मानो सिनेमा देखता हो वैसे व्यक्ति अपना संपूर्ण चित्र अपने हृदय समक्ष देख सकता है ।

यों, मौनमंदिर स्वशिक्षण के लिए की कार्यशाला हो जाती है । व्यक्ति विद्यार्थी बनता है और उसमें छिपा हुआ 'प्रभु' शिक्षक बनता है । 'यह शिक्षक' व्यक्ति को जीवनशिक्षा एवं संसारशिक्षा के पाठ पढ़ाता है । यों, स्वयं को पहचानने की उत्तम शिक्षा की शुरूआत होती है । **'स्व' की वृत्ति एवं प्रकृति को पहचाननी यह आध्यात्मिक शिक्षण की पूर्वशर्त है ।** इस पूर्वशर्त का पालन मौनमंदिररूपी इस आध्यात्मिक शिक्षण की पूर्वशर्त है, इस शर्त का पालन मौनमंदिररूपी इस आध्यात्मिक शाला में सहजरूप से होता है । व्यक्ति का अपना इस प्रकार का स्वदर्शन वह आध्यात्मिक अभिमुखता के लिए आशीर्वादरूप है ।

मौनमंदिर में बैठने से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता अथवा 'जीव' कोई 'शिव' नहीं हो जाता । पर अपना सच्चा स्वरूप निहारने के लिए व्यक्ति के चित्त में पड़े हुए उच्च संस्कारों का उदय होता है, अतः सांसारिक संताप, क्लेश,

टकराहट, असमंजस आदि से उबरने में उसे सहाय मिलती है। व्यक्ति जब समाज में होते हैं, तब उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ व्यस्त हुई ही रहती हैं। इससे उसे चेतन का विचार या कल्पना भी नहीं उठ़ती। जब मौनमंदिर में उस प्रकार की भावना खिलती है, अंदर अकेले होने से बाहरी समाज का डर नहीं रहता, इससे डर के कारण दबी हुई वृत्तियाँ उभरती हैं। ऐसे समय में व्यक्ति की आंतरिक चेतना उसे चेतावनी देती है और वृत्तिओं से विमुख होने का सूचित करती है। यों, व्यक्ति के मौनएकांत द्वारा आध्यात्मिक अभिमुखता की जागृति निर्माण होती है।

सांसारिक जीवन में ताजगी जरूरी है वैसा श्रीमोटा कहते हैं, यानी कि प्रसन्नता के बिना संसार में होते स्थूल कर्म नीरस बन जाते हैं। मौन-एकांत के कारण घर्षण शांत होते हैं, संसार में न स्थापित हो वैसे उच्च संस्कार सूक्ष्म रूप से चित्त में इस समय के दौरान स्थापित होते हैं, जो मानसिक, प्रसन्नता विकसित करने के लिए बहुत ही मददरूप होते हैं। ऐसी प्रसन्नता जीवन के किसी भी क्षेत्र से नहीं मिलती है। इसलिए तो श्रीमोटा ने मौनमंदिर को सच्चा तीर्थ कहा है। तीर्थस्थानों में पूजन, अर्चन, स्नानादि करने से पावन संतोष अवश्य मिलता है। परन्तु रागद्वेष, कामक्रोध, आशा, तृष्णा, इच्छाएँ कम नहीं होती। मौनमंदिर में व्यक्ति अपनी प्रकृति के घुमाव, भाव, विकार, वृत्तिओं के उभार सभी को देखता

है । जागृत चेतना द्वारा होता सात्त्विक पश्चात्ताप उसके हृदय को शुद्ध करता है, ऐसी प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति अपने में चेतना की प्रतीति करता है और अपने अंतर में सात्त्विकता को विकसित करता है । यों, मौनमंदिर में आध्यात्मिक संस्कार उसके चित्त में स्थापित होते हैं । इन संस्कारों की मदद से ही वह संसार की मुठभेड़ को ज्ञानपूर्वक प्रसन्नता से हल करता है । यों, जीवात्मा को आत्मस्वरूप पाने के लिए प्रसन्नता देता सच्चा तीर्थ यह मौनमंदिर है ।

संसार के बाह्य कर्मों से मुक्ति पाकर अपने में छिपे हुए सच्चे स्वरूप के दर्शन करने मौनएकांत एक परम साधन है । मौनमंदिर में विकसित अंतर्मुखता से तीव्रता व्यक्ति को पछताने और क्षमायाचना के तीव्र अनुभव करवाती है । यों, जीवात्मा के रुदन द्वारा आत्मशोधन होता है । व्यक्ति सचमुच पराङ्मुख होता है । संसार की मायाजाल में रहकर मनुष्य अपने बारे में कभी सोचता नहीं है, इसलिए उसे फुरसत देने और समझ पैदा करने के लिए एकांत में रखना जरूरी है । जिससे वह प्राकृत **जीव** के संस्कारों को पार करके जीवन को उन्नत कर सके, जीवनपथ प्रकाशमय बना सकता है ।

यों, यह अंधेरी कोठरी जीवन में बहुत प्रकाश फैला देती है । **मन के विकार जैसे कि द्वेष, खीज, चिंता, अशांति, निराशा, धिक्कार, तनाव आदि के इलाज के**

लिए कोई कॉलेज, युनिवर्सिटी या ऐसी कोई दूसरी वैज्ञानिक संस्था नहीं है । ऐसे विकार शांत करने मौनमंदिर वही मात्र एक इलाज है । प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही अपना शिक्षक या प्रोफेसर होकर 'स्वयं' को प्रयोगशाला के टेबल पर रखकर आत्मनिरीक्षण एवं परीक्षण करके अवलोकन अलग करके जीवननिर्णय करने गढ़ाना है ।

इस तरह से चेतन स्वरूप श्रीमोटा ने व्यक्ति को परमात्माभिमुख करने के लिए मौनमंदिर स्वरूप में एक आध्यात्मिक शाला बनायी है ऐसा कह सकते हैं, जहाँ मनुष्य स्वयं ही अपना सहवास करके, स्वयं ही अपना शिक्षक बनकर, स्वशिक्षा प्राप्त करके स्वविकास करता है । सचमुच, मौनमंदिर एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है ।

॥ हरिः ॐ ॥

॥ हरि:ॐ ॥

भगवान के प्रति अभिमुखता कब जागेगी ?

भगवान प्रति की अभिमुखता भूमिका के बिना नहीं जगती है । अमुक बार ऐसा होता है कि आंतरिक भूमिका में यह प्रक्रिया चलती होती है । जिसकी जानकारी हमें होती नहीं है । जब भगवान प्रति की प्रचंड अभिमुखता जाग उठे, तब **जीव** अनुभवी और श्रेयार्थी को निमित्त कारण बनता है । इसके लिए किसी भी विषय की प्रचंड धुन होनी अति आवश्यक है । अच्छे से अच्छे गुंड़ों में सामान्य संसारी से भगवान की तरफ मुड़ने की संभावना अधिक होती है । इतिहास बतलाता है कि व्यभिचारिओं भगवान के परम भक्त हो गये । संक्षेप में किसी भी प्रकार का अनोखापन मस्त धुन उसमें होनी चाहिए । यद्यपि अपने आप कुछ भी प्रकट नहीं होता है । जिस तरह से भूगर्भ में पड़े हुए तेल को बाहर लाने के लिए भारी प्रयत्न करना पड़ता है, उस तरह व्यक्ति को भी प्रयत्न करना पड़ता है ।

- मोटा

॥ हरि:ॐ ॥

बालशिक्षा

- 'शिक्षा मातापिता दे सके ऐसी कोई नहीं दे सके ।'
- 'संतान को प्रेमभाव से पालो-उसके सामने भगवान की बात करो, नामधुन सुनाओ, स्तनपान करवाते समय उसे बहुत ही शांत और प्रेमभाववाले होकर एकाग्रचित्त से भगवान का नामस्मरण करते रहो, जिससे वह सारा भाव उसमें उतरे । पर प्रथम आपके दिल में तमन्ना प्रकट होनी चाहिए ।'
- 'बालक को बचपन से ही मान-अपमान का ख्याल होता है । उस बात में तो हम जितना समझदारी से व्यवहार करें उतना उत्तम है । बालक के जीवनविकास का आधार मातापिता के जीवन विषयक समझ के प्रकार पर भी रहा हुआ है । जीवनविकास में माँ के हृदय का प्रेम यह बहुत बड़ा भाग निभाता है ।'

('श्रीमोटा और शिक्षा', पृ. ४५-४६)

- मोटा

॥ हरिः ॐ ॥

आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए
पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...
ॐ शरणचरण.

मन-वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)
मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्भाव जगें, प्रभु (२)
भले अपमान हुए हों (२) तब भी भाव बढ़े...ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करने, प्रभु (२)
प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...ॐ शरणचरण.

मन के सकल विचार, प्राण की वृत्ति, प्रभु (२)
बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दीखें, प्रभु (२)
मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उलटा, प्रभु (२)
मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...ॐ शरणचरण.

जहाँ जहाँ गुण और भाव, वहीं दिल मेरा टिके, प्रभु (२)
गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव से पिघले प्रभु (२)
दिल में तुम्हारी भक्ति की (२) लहरें उछले.... ॐ शरणचरण.

– मोटा

साधना-मर्म

१. मुख से या मन में जागृत रूप से जप, साथ ही हृदय-प्रदेश पर ध्यान तथा चेतना के साथ चिंतन सह भावात्मक भाव का रटन ।
२. प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण : अच्छे तथा बुरे दोनों का ।
३. साक्षीभाव, जागृति, विचारों की शृंखला न जोड़ें ।
४. हो सके उतना अधिक वाचिक और मानसिक मौन रखें, अभ्यस्त हो, और अत्यधिक शरणभाव से जीवन में चेतनापूर्वक जागृति को व्यवस्थित करें।
५. आग्रह प्रभु-चिंतन के अलावा सभी आग्रहों को छोड़ें, नम्रता रखें, शून्य होने का ध्येय रखें ।
६. बहुत भावपूर्ण हृदयस्थ हो आर्द्र और आर्तभाव से 'प्रार्थना', करें, भगवान को सभी सुख-दुःख बतलाते रहें, उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा बहुत गहरा व्यक्तिगत संबंध स्थापित करें, मन में कुछ भी विचार न आने दें।
७. जो भी कार्य करें प्रभु के हैं समझकर करें -जरा भी संकोच किए बिना उसे बहुत प्रेमपूर्वक करें । प्रत्येक प्रसंग, घटना हमारे कल्याण के लिए ही है और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने विकास के लिए है । प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ शुभ संकेत छिपा है ।
८. आत्मलक्षी-अंतर्मुखी बनें, मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान-बूझकर अपने आपको न उलझने दें ।
९. पर (अन्य) की सेवा ही प्रभुसेवा समझें, सेवा लेनेवाले, सेवा देनेवाले पर, सेवा करने का अवसर देकर उपकार करते हैं । राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं, वहाँ मेरा-मेरा कहाँ रहा ? तुम्हारा इस जगत में है क्या ?
१०. प्रत्येक कार्य, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे खास हेतु के लिए हेतु का लक्ष जीवंत रखकर करें । पढ़ते-लिखते समय और प्रत्येक कर्म करते समय भाव की स्मरण धारणाओं का अभ्यास करते रहें ।
११. वृत्ति का मूल खोजें, उसका पृथक्करण करें । उसमें खोये बिना, उसका तटस्थतापूर्वक और स्वस्थतापूर्वक निरीक्षण करें ।
१२. प्रभु की प्रत्येक कला, सौन्दर्य, रम्यता, विशुद्धता आदि प्रसादिओं में रहे हुए भाव का, उसके-उसके अनुरूप भाव का हमारे में अवतरण होने प्रार्थना करें ।

१३. ऊर्मि, आवेश और प्रेमभाव को ऐसे ही न जाने दें, साथ ही उसमें डूब भी न जाएँ । उसका साधना में उपयोग करो, ताटस्थ्य विकसित करो ।

१४. खाते और पानी पीते समय पर जीवन में चेतनशक्ति के अवतरणभाव की प्रार्थना करना । शौच, पेशाब आदि क्रियाओं के समय पर विकारों, कमजोरियों इत्यादि के विसर्जनभाव की प्रार्थना करना ।

१५. स्थूल का ख्याल त्यागकर सूक्ष्म तत्त्व को नजर समक्ष रखो । वृत्ति की शुद्धि करो, भाव की वृद्धि करो ।

१६. प्रभु सचराचर हैं । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रखो ।

१७. प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को देखो । किसी के भी काजी न बनो, किसी के पर भी जल्दी अभिप्राय न दो, वाद-विवाद न करो, अपना आग्रह न रखो, दूसरों में शुभ हेतुओं का आरोपण करो । मानसिक और सार्वत्रिक उदारता जीवन में प्रकट करो, अत्यधिक प्रेमभाव विकसित करो, प्रकृति का रूपान्तर करना है, उसे लक्ष में रखकर प्रकृतिवश होनेवाले कर्मों को वश न होकर आगे बढ़ो । फल की आसक्ति त्यागो । स्वयं पर होते अन्यायों, आ पड़ते दु:खो आदिका मूल हम में ही है, ऐसा दृढ़तापूर्वक मानो, गुरु में प्रेमभक्तिभाव दृढ़ किया करो । अभीप्सा, इनकार और समर्पण का त्रिवेणीसंगम उद्‌भव करो, सदा ही प्रसन्नता फैलाओ, कृपा और पुरुषार्थ के युगल को जीवन में उतारो, प्रत्येक कर्म के आदि, मध्य और अंत में प्रभु की स्मृति प्रकट करो, मन को नि:स्पंद करो, रागद्वेष निर्मूल करने की जागृति रखो, हुए आध्यात्मिक अनुभवों को नित्य के जीवन में आचरण में लाओ, कहीं भी किसी में से भागें नहीं, जो भी प्रभुइच्छा से प्राप्त हो, वह प्रभुप्रसाद समझकर उसका हर्षपूर्वक सत्कार करो । कहीं भी किसी की तुलना न करो, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति यह मन का भ्रम है, जीवनसाधना के लिए सब कुछ सानुकूल ही होता है, प्रभुमय—उसके मूल यंत्र—होने की ही एक उत्तेजना अब जीवन में रखो ।

१८. कर्म में कर्म का महत्त्व नहीं है, परन्तु जीवन के भाव का सतत एक-सा, जीवित चिंतन रहा करे, यह सविशेषरूप से महत्त्व का है । वैसा जीवित अभ्यास कर्म करते हुए प्रत्येक क्षण में विकसित करो ।

-श्रीमोटा

॥ हरिः ॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

जन्म	:	ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी, वि. सं. १९५४
स्थान	:	सावली, जिला वडोदरा (गुजरात)
नाम	:	चुनीलाल ।
माता	:	सूरजबा ।
पिता	:	आशाराम ।
जाति	:	भावसार ।
उपनाम	:	भगत ।
१९०३	:	कालोल में निवास, गरीबी का आरंभ ।
१९०६	:	मजूरी के काम ।
१९१५	:	तौला की नौकरी ।
१९१६	:	पिता की मृत्यु ।
१९०५ से १९१८	:	टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी ।
१९१९	:	मैट्रिक उत्तीर्ण ।
१९१९-२०	:	वडोदरा कॉलेज में ।
दि. ६-४-१९२१	:	कॉलेज का त्याग ।
१९२१	:	गुजरात विद्यापीठ में ।
१९२१	:	विद्यापीठ का त्याग । हरिजनसेवा का आरंभ । मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर के कगार से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरिः ॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग ।
१९२२	:	वसंतपंचमी को श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा । श्रीसद्गुरु केशवानंद धूनीवाले दादा के दर्शन के लिए सांईखेड़ा गए । रात्रि को श्मशान में

		साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजनसेवा ।
१९२३	:	'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना ।
१९२४	:	डाकोर में श्रीनथ्थुराम (मगरमच्छ) से मिलन, हिमालय की प्रथम यात्रा ।
१९२६	:	विवाह हस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव । हरिद्वार कुंभमेले में श्रीबालयोगीजी की तलाश ।
१९२७ मार्च	:	हरिजन आश्रम, बोदाल में सर्पदंश* परिणाम स्वरूप 'हरि:ॐ' जप अखंड हुआ ।
१९२८	:	'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।
१९२८	:	दूसरी हिमालय-यात्रा ।
१९२८	:	साकुरी के श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकुरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में भूख-तरस, सख्त पत्थरमार सहन करते लगभग १०-११ दिन ध्यान, समाधि अवस्था में ।
१९३०	:	मन की नीरवता का साक्षात्कार ।
१९३० से ३२	:	इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में । हेतु देशसेवा का नहीं, साधना का । कठोर परिश्रम और लाठी चार्ज के दौरान प्रभुस्मरण-मौन । विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भगवद्गीता को लिखा—'जीवनगीता' ।
१९३३	:	तीसरी हिमालययात्रा । बर्फ में रहते महात्मा मिले ।
१९३४	:	सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार । मल-मूत्र के आधार पर पचीस दिन की साधना ।

* 'जीवनआरंभ पत्र' ता. २६-३-१९५२ -

१९३४ से १९३९ : इस दौरान हिमालय में अघोरीबाबा की मुलाकात बाद में नर्मदा धुंआँधार के प्रपात के पीछे की गुफा में साधना । चैत्र मास में ६३ धूनियाँ जलाकर नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना । कराची में नर्कचतुर्दशी की रात्रि को समुद्र में शिला पर ध्यान, चालीस दिन के रोजे, 'समुद्र में चले जाने का हुक्म और ईद के दिन पूरे शहर में नग्न अवस्था में घूमकर घर जाने का सांईबाबा का हुक्म। शिरडी के सांईबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन—आदेश—साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन ।

१९३९ : दि. २९-३-३९ : रामनवमी विक्रम संवत १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार । हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र । 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।

१९४० : दि. ९-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से कराची जाने का गूढ़ आदेश ।

१९४१ : माता का अवसान ।

१९४२ : हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबाई में चन्दा इकट्ठा किया । दो बार सख्त पुलिसमार— देहातीत अवस्था के प्रमाण ।

१९४३ : २४, फरवरी गाँधीजी के पेशाब के जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन । नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव ।

१९४५ : हिमालय की यात्रा - अद्‌भुत घटनाएँ ।

१९४६ : हरिजन आश्रम, अहमदाबाद मीराकुटिर में मौनएकांत का आरंभ ।

१९४७ : आश्रम स्थापने का विचार ।

१९५०	:	दक्षिण भारत के कुंभकोणम् (तामिलनाडु) में कावेरी नदी के किनारे हरि:ॐ आश्रम की स्थापना । (सन १९७६ में श्रीमोटा के देहत्याग के बाद आश्रम बंद कर दिया गया ।)
१९५४	:	सूरत तापी नदी के किनारे, कुरुक्षेत्र, जहाँगीरपुरा के श्मशान में मौनएकांत का आरंभ ।
१९५५	:	दि. २८-५-१९५५ : जूना बिलोदरा, शेढी नदी के किनारे, नडियाद, गुजरात, हरि:ॐ आश्रम की स्थापना ।
१९५६	:	दि. २३-४-१९५६ सूरत (गुजरात) तापी नदी के किनारे, कुरुक्षेत्र, जहाँगीरपुरा में हरि:ॐ आश्रम की स्थापना ।
१९५९	:	१६-८-१९५९ हरि:ॐ आश्रम, सूरत में मौनमंदिर का उद्घाटन ।
१९६२	:	समाजोत्थान की प्रवृत्ति, उत्सव मनाने की संमति ।
१९७० से १९७५	:	शरीर में पीडाकारी वेदना के साथ सतत प्रवास, वार्तालाप और साधना का इतिहास, श्रद्धा, निमित्त, रागद्वेष, कृपा आदि भाववाही विषयों पर लेखन - प्रकाशन ।
१९७६	:	१९-७-१९७६ देहत्याग का संकल्प, हरि:ॐ आश्रम नडियाद । २२-७-१९७६ देहत्याग विधि का प्रारंभ : सायंकाल ४ बजे से फाजलपुर (जि. वडोदरा, गुजरात) मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस में ।
२३-७-१९७६	:	देहविसर्जन : श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस नजदिक मही नदी के किनारे फालजपुर (जि. वडोदरा, गुजरात)

● ● ●

हरि:ॐ आश्रम सूरत में उपलब्ध हिंदी पुस्तकों का लिस्ट

क्रम	पुस्तक	प्र. आ.
१.	पूज्य श्रीमोटा एक संत	१९९७
२.	कैंसर का प्रतिकार	२००८
३.	सुख का मार्ग	२००८
४.	दुर्लभ मानवदेह	२००९
५.	प्रसादी	२००९
६.	नामस्मरण	२०१०
७.	हरि:ॐ आश्रम (श्रीभगवान के अनुभव का स्थान)	२०१०
८.	श्रीमोटा के साथ वार्तालाप	२०१२
९.	विवाह हो मंगलम्	२०१२
१०.	बालकों के **मोटा**	२०१२
११.	विद्यार्थी **मोटा** का पुरुषार्थ	२०१२
१२.	मौनमंदिर का मर्म	२०१३
१३.	मौनमंदिर का हरिद्वार	२०१३
१४.	मौनएकांत की पगडंडी पर	२०१३
१५.	मौनमंदिर में प्रभु	२०१४

●

English books available at Hariom Ashram, Surat.
January - 2020

No.	Book	F. E.
1.	At Thy Lotus Feet	1948
2.	To The Mind	1950
3.	Life's Struggle	1955
4.	The Fragrance Of A Saint	1982
5.	Vision of Life - Eternal	1990
6.	Bhava	1991
7.	Nimitta	2005
8.	Self-Interest	2005
9.	Inquisitiveness	2006
10.	Shri Mota	2007
11.	Rites and Rituals	2007
12.	Namsmaran	2008
13.	Mota for Children	2008
14.	Against Cancer	2008
15.	Faith	2010
16.	Shri Sadguru	2010
17.	Human To Divine	2010
18.	Prasadi	2011
19.	Grace	2012
20.	I Bow At Thy Lotus Feet	2013
21.	Attachment And Aversion	2015
22.	The Undending Odyssey (My Experience of Sadguru Sri Mota's Grace)	2019
23.	Pujya Shri Mota Glimpses of a divine life (Picture Book)	2020
24.	Genuine Happiness	2021

●

॥ હરિ:ૐ ॥

॥ हरिः ॐ ॥

बालशिक्षा

* 'शिक्षा मातापिता दे सके ऐसी कोई नहीं दे सके ।'

(गुजराती, 'शेष-विशेष', पृ.९९)

* 'संतान को प्रेमभाव से पालो-उसके आगे भगवान की बात करो, नामधुन सुनाओ, स्तनपान करवाते समय उसे खूब हीं शांत और प्रेमभाववाले होकर एकाग्रचित से भगवान का नामस्मरण करते रहो, जिससे यह सारा भाव उसमें उतरे । पर प्रथम आपके दिल में तमन्ना आनी चाहिए ।'

(गुजराती, 'जीवनपराग', पृ. ४५५)

* 'बालक को बचपन से ही मान-अपमान का खयाल होता है । इस बारे में तो हम जितना समझदारी से व्यवहार करें उतना उत्तम है । बालक के जीवनविकास का आधार मातापिता की जीवन विषयक समझदारी के प्रकार भी रहा हुआ है । जीवनविकास में माँ के हृदय का प्रेम वह बहुत बड़ा भाग निभाता है ।'

(गुजराती, 'जीवनसोपान', पृ. ८४)

- श्रीमोटा

'श्रीमोटा और शिक्षा',
प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४५, ४६